

April 2022

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अप्रैल २०२२



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अप्रैल २०२२

विषय-सूची

‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

क्रमविकासरत अतिमानस	श्रीअरविन्द ३
एक साधक के नाम पत्र	‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड १६ से ९
आध्यात्मिक खोज का सच्चा उद्देश्य	श्रीअरविन्द १४
स्त्री और पुरुष	‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड २ से १७
शरीर की साधना	श्रीअरविन्द/श्रीमाँ १८
८ फ़रवरी १९७३ का वार्तालाप	‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२ से २१
श्रीअरविन्द के उत्तर (८४)	२४

‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

अपने अन्तिम गद्य-लेखनों में श्रीअरविन्द ने *Bulletin of Physical Education*—शारीरिक शिक्षण की पत्रिका—(जिसका बाद में नाम बदल कर *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*—श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र-पत्रिका—कर दिया गया था) के लिए आठ लेख लिखे थे। यह त्रैमासिक पत्रिका फ़रवरी १९४९ में शुरू हुई थी। ये लेख १९४९ तथा १९५० के अंकों में प्रकाशित हुए थे। १९५० में श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के साथ यह कड़ी टूट गयी। बाद में १९५२ में *पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति* के नाम से यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई।

क्रमविकासरत अतिमानस

तब पृथ्वी तथा पार्थिव सत्ता में मानसिक सत्ताओं की एक नयी जाति का प्रादुर्भाव होगा, लेकिन वह होगी मनुष्य की वर्तमान अवस्थाओं से मुक्त, जहाँ अभी वैश्व अज्ञान का राज चल रहा है, वह पूर्णताप्राप्त मन की स्वामिनी होगी, प्रकाश के मन की जो अतिमानस या ‘सत्य’-चेतना के अधीन होगा और हर अवस्था में मन को वे पूर्ण सम्भावनाएँ प्रदान करेगी कि वह अपने विचार और जीवन में सत्य को ग्रहण कर सके। वह उसका भी एक भाग हो सकती है जिसे पृथ्वी पर भागवत जीवन कहा जा सकता है और परम ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्थाओं को भी अभिव्यक्त करेगी, अर्थात्, अज्ञान में नहीं फँसी रहेगी जैसी कि वर्तमान मानवजाति की अवस्था है। यह चीज़ किस हद तक होगी, क्या अन्ततः यह नूतन जाति समस्त मानवजाति को अपने आलिंगन में भर लेगी या बस उसके प्रगतिशील हिस्से को, यह स्वयं क्रमविकास के उद्देश्य पर निर्भर करेगा, उस उद्देश्य पर कि वैश्व या परात्पर ‘संकल्प’ जगत् की गतियों को किस दिशा में बढ़ाना चाहता है। हम न केवल इसकी कल्पना करते हैं कि अतिमानस पृथ्वी पर अवतरित होगा, बल्कि यह चाहते हैं कि एक अतिमानसिक जाति पृथ्वी पर उतर आये, वह यहाँ सहज रूप से क्रिया करे और एक सम्पूर्ण नूतन जगत् की रचना हो जाये जिसमें नयी मानवता अपना पूर्ण विकास पा ले और धरती पर सुप्रतिष्ठित हो जाये।

लेकिन यह स्पष्ट है कि यह सब केवल उस क्रमविकास के परिणाम-स्वरूप ही आ सकता है जिसने धरती पर अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है, यानी धरती की वर्तमान सीमाओं से बहुत परे निकल कर, मौलिक रूप से एक नयी गतिविधि शुरू हो गयी है जिसका सञ्चालन एक ऐसा नया सिद्धान्त करेगा जिसमें मन और मानव अधीनस्थ तत्त्व होंगे, तब मन न तो उच्चतम प्राप्ति होगा और न मनुष्य धरती का नेता या मुकुट। अभी हम अपने चारों ओर जिस क्रमविकास को देख रहे हैं वह इस तरह का नहीं है और, यह कहा जा सकता है कि अभी

तो नयी जाति के आने की सम्भावना के इतने कम लक्षण दीखते हैं कि वर्तमान में हमारी जो एकमात्र निश्चित पथ-प्रदर्शिका—बुद्धि—है वह इस पर विश्वास करने का साहस तक नहीं जुटा पा रही। पृथ्वी, वह पृथ्वी जिसे हम देखते हैं, जिसका जीवन निश्चेतना तथा अज्ञान में डूबा हुआ, उससे कस कर बँधा हुआ है, वह इस तरह के विकास के लिए नहीं बनी है, वह ऐसे आविर्भाव को धारण करने में समर्थ नहीं है; अपनी जड़-भौतिकता और सीमितता के द्वारा यह स्थायी रूप से निम्न कोटि की अवस्था से अभिशप्त है। यह भी कहा जा सकता है कि इस तरह के अवतरण के लिए यहाँ नहीं, कहीं और स्थान होना चाहिये और अगर अतिमानस मात्र एक अटकलबाज़ी नहीं है, एक ठोस वास्तविकता है तो उसे यहाँ मूर्त रूप से उतरने की कोई आवश्यकता नहीं है, न ही यह उसके लिए उचित स्थान है, इसके प्रत्युत्तर में अन्य लोग यह भी कह सकते हैं कि मन जो अपने अज्ञानभरे जगत् में ज्ञान का पूरा खेल खेलने में लगा है, उसे यह स्थान छोड़ देना चाहिये, और अपना ठौर कहीं और ढूँढ़ना चाहिये, तब धरती अपने स्वाभाविक रूप में वैश्व प्रकृति की सेवा का सर्वोत्तम क्षेत्र बन जायेगी। जड़-भौतिकमय दर्शन इस जड़-भौतिक में किसी भी प्रकार के दिव्य जीवन की सम्भावना को स्वीकार नहीं करेगा; यहाँ तक कि ऐसा दर्शन भी जो अन्तरात्मा अथवा आत्मा को मानता है और यह कहता है कि क्रम-विकासात्मक गति का आखिरी 'स्टेशन' आध्यात्मिक ही है, वह भी पृथ्वी के अन्दर दिव्य जीवन को धारण करने की बात को पूरी तरह नकार सकता है। उसके लिए भी किसी भी प्रकार के भागवत जीवन को प्राप्त करने के लिए इस पृथ्वी और शरीर को छोड़ना अवश्यम्भावी है। भले वैश्व जीवन कोई माया न हो, फिर भी किसी भागवत या पूरी तरह से आध्यात्मिक सत्ता का उतरना पृथ्वी से कम जड़-भौतिक जगत् या एकदम से शुद्ध आत्मा में ही सम्भव है। बहरहाल, सामान्य मानव-बुद्धि के लिए ये सभी विषमताएँ किसी भी तरह के भागवत जीवन के पृथ्वी पर रूप लेने के बहुत विरुद्ध होंगी।

फिर से हम उसी बात पर आते हैं कि अगर हम यहाँ के वर्तमान क्रमविकास या उसके स्वभाव पर बहुत ज़ोर दें, जैसा कि भौतिक विज्ञान हमें दर्शाता है, तो कहा जा सकता है कि मानव मन के परे के किसी भी सिद्धान्त या इस जड़-भौतिक संसार में किसी भी तरह की अतिमानसिक सत्ताओं-जैसी चीज़ के उतरने की आशा के औचित्य को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। स्वयं चेतना अपने जन्म तथा अपने सञ्चालन के लिए 'जड़-भौतिक' पर तथा भौतिक साधनों पर निर्भर करती है, और एक अचूक 'सत्य'-चेतना, जैसा कि हम अतिमानसिक चेतना को मानते हैं, जगत् की वर्तमान अवस्थाओं में एक विरोधाभास होगी और उसे कपोल-कल्पना कह कर उड़ा दिया जायेगा। मौलिक रूप से, भौतिक विज्ञान क्रमविकास को आकारों तथा प्राणिक गतिविधियों का विकास मानता है; बृहत्तर तथा अधिक समर्थ चेतना के विकास को वह पार्थिव जीवन के विकास तथा रूप का अधीनस्थ परिणाम समझता है, विज्ञान के लिए वह चीज़ बहुत बड़ी या विशेष नहीं होती और वह यह भी मानता है कि धरती पर कोई भी वस्तु मन तथा प्राण के भौतिक उद्गम की सीमाओं को पार नहीं कर सकती। मन ने यह प्रमाणित कर

दिखलाया है कि उसने मनुष्यजाति को बहुत सी उपलब्धियाँ प्रदान की हैं, लेकिन जड़-भौतिक साधनों या भौतिक अवस्थाओं के बिना वह सीधा किसी भी विशेष विद्या को नहीं पा सकता और उसके लिए यह स्वीकार करना उसकी समझ के परे होगा कि किसी भी ज्ञान को सीधा, बिना किसी भौतिक साधन के कभी पाया भी जा सकता है। अतः, इस दृष्टि से चेतना का विकास एक बिन्दु के बाद और आगे बढ़ ही नहीं सकता। कोई निश्चित या स्वतन्त्र वस्तु भी—जिसे हम अन्तरात्मा के नाम से पुकारते हैं—वह भी यहाँ की नैसर्गिक अवस्थाओं के द्वारा सीमित हो जाती है, जहाँ का आधार जड़-भौतिक है, जहाँ भौतिक मन ही उच्चतम सम्भव यन्त्र है। अतः, यहाँ 'चेतना' की किसी भी क्रिया को सम्पन्न करने की सम्भावना नहीं रहती; हाँ, अगर व्यक्ति इस भौतिक, प्राणिक अथवा मानसिक 'प्रकृति' के परे कहीं चला जाये तो बात और है। यह चीज़ धरती के हमारे क्रमविकास पर बन्धन कस देती है।

यह सुझाव भी दिया जा सकता है कि जब तक स्पष्ट रूप से स्वीकार करने-योग्य अतिमानस-जैसी कोई चीज़ अपनी कुछ निश्चितियों या पूर्णताओं के साथ स्वयं को अभिव्यक्त न करे या जब तक वह उतर कर हमारी पृथ्वी-चेतना को अपने अधिकार में न कर ले, हम उसके अस्तित्व के बारे में निश्चित नहीं हो सकते; तब तक मन ही यहाँ समस्त ज्ञान का सर्वसामान्य निर्णायक या सन्दर्भ-सूत्र रहेगा और साथ ही यह भी कि किसी भी निश्चित या निरपेक्ष ज्ञान के लिए मन असमर्थ है; हर चीज़ पर सन्देह करना उसका काम है, हर चीज़ का परीक्षण करना और साथ ही सब कुछ पाना उसका ध्येय है, लेकिन वह अपने ज्ञान या अपनी उपलब्धियों में निरापद नहीं हो सकता; कैसी विडम्बना है यह! प्रसंगवश यह चीज़ किसी भी बोधगम्य सृष्टि में अतिमानस या 'सत्य'-चेतना की आवश्यकता को प्रतिष्ठित करती है, क्योंकि इसके बिना जीवन या ज्ञान के लिए न कोई लक्ष्य होगा न ध्येय। अतिमानस-चेतना के बिना पार्थिव चेतना अपने अस्तित्व का पूर्ण अर्थ, अपना चरम परिणाम नहीं पा सकेगी; वह घोर असफलता में डूब जायेगी। पृथ्वी की चेतना के अस्तित्व का लक्ष्य ही है अपने सत्य के प्रति अभिज्ञ होना और वह तब तक इसे नहीं पा सकती जब तक वही उसके जीवन का उद्देश्य नहीं बन जाता, तब अतिमानस का प्रादुर्भाव हो सकता है, और एक बार अतिमानस को ग्रहण कर लिया जाये तो सब कुछ सुबोध्य हो जाता है। लेकिन तब तक मनुष्य सन्देह में ही बना रहता है और वह यह भी सोचने लगता है कि अगर अतिमानस को धरती पर एक वास्तविकता के रूप में मान भी लिया जाये, लेकिन फिर भी उसके आगमन और पृथ्वी पर उसके शासन की कोई 'गारण्टी' दी जा सकती है क्या? तब तक शायद उसके प्रति सभी प्रयास असफलता में नहीं ले जायेंगे क्या? यह पर्याप्त नहीं है कि अतिमानस हमारे ऊपर विराजमान हो, कि उसका अवतरण एक सम्भावना है या प्रकृति का भावी अभिप्राय। हम तब तक उसके अवतरण की वास्तविकता के बारे में निश्चित नहीं हो सकते जब तक वह हमारी पार्थिव सत्ता में इन्द्रियगोचर तथ्य नहीं बन जाता। 'प्रकाश' ने भी बहुत बार धरती पर उतरने की कोशिश की है, लेकिन 'प्रकाश' अब तक असफल और अपूर्ण ही बना हुआ है, मनुष्य 'प्रकाश' को अस्वीकार कर

सकता है, संसार अभी तक अन्धकार से भरा हुआ है और उसका आविर्भाव निकट भविष्य में होता नहीं दीखता—यह सन्देह अतीत की वास्तविकताओं और भविष्य की वर्तमान सम्भावनाओं से न्यायोचित तो ठहरता है। केवल तभी जब अतिमानस को एक बार विश्व की व्यवस्था का परिणाम-स्वरूप एक भाग मान लिया जाये तब सब कुछ ठीक हो जायेगा। अगर क्रमविकास की यह प्रवृत्ति है कि वह जड़-भौतिक से अतिमानव में पहुँचने की कोशिश कर रहा है, तो उसका झुकाव इस ओर भी होना चाहिये कि वह अतिमानस को जड़-भौतिक में उतार लाये। तब उसके परिणाम सुस्पष्ट होंगे।

इस अनिश्चिति की सारी समस्या इस तथ्य से आती है कि हम जगत् के सत्य—जैसा कि वह अभी है—की आँखों में आँखें डाल कर नहीं देखते और न उचित रूप से यह जानते हैं कि उसे कैसा होना चाहिये और वैसा वह होकर रहेगा। इसमें कोई दो रायें नहीं हैं कि प्रकट रूप में जगत् पूरी तरह से 'जड़-भौतिक' का सहारा लिये हुए है, लेकिन उसका शीर्ष मुकुट 'आत्मा' ही है और उस आत्मा की ओर आरोहण ही उसके अस्तित्व का लक्ष्य और उसके सच्चे अर्थ और उद्देश्य का सूचक होना चाहिये। लेकिन आज जगत् की जो अवस्था है उसमें 'आत्मा' की वरीयता और शीर्षस्थता का भाव आध्यात्मिकता को समझने के उस गलत और अपूर्ण विचार से धुँधला गया है जिसे मानव की उस अज्ञानी बुद्धि ने रचा है और जिसके अन्दर ज्ञान की एकतरफ़ा समझ होती है और जो ज्ञान को ताबड़तोड़ जल्दी में पाकर उस पर अपनी मुहर लगाना चाहती है। वह आत्मा जिसकी हम बात कर रहे हैं, उसे सर्वव्यापी सत्ता अथवा हमारी सत्ता के गुप्त सारतत्त्व के रूप में नहीं देखा जाता बल्कि केवल यही माना जाता है कि वह अपनी ऊँचाइयों से नीचे हमारी ओर देख रही है और हमें समस्त अस्तित्व से निकाल कर अपनी ओर ऊपर खींचने को आतुर है। तब हमारे अन्दर यह विचार आता है कि वैश्व तथा वैयक्तिक सत्ता बहुत बड़ा भ्रम, माया है, और इससे बाहर निकल जाना और अपनी व्यक्तिगत तथा वैश्व, दोनों सत्ताओं का, अपनी चेतना से बहिष्करण ही हमारी एकमात्र आशा, एकमात्र मुक्ति है। या फिर हम धरती को अज्ञान, दुःख-कष्ट और अग्नि-परीक्षाओं का क्षेत्र समझ बैठते हैं और हमारा एकमात्र भविष्य होता है—दूर के स्वर्गों में पलायन; हमारे लिए यहाँ कोई भागवत सम्भावना नहीं दीखती, पार्थिव जीवन में कोई परम उद्देश्य चरितार्थ करने को नहीं सूझता। लेकिन अगर अतिमानस का अस्तित्व है, अगर वह अवतरण कर ले, अगर वह शासक तत्त्व बन जाये तो वह सब जो मन को असम्भव लगता है, वह न केवल सम्भव बन जाता है बल्कि अनिवार्य भी। अगर हम बारीकरी से देखें तो पायेंगे कि मन और जीवन अपनी पूर्णता पाने के लिए ऊँचाइयों की ओर, एक तरह की भागवत सिद्धि की ओर, यानी अपनी सम्पूर्णता की ओर बढ़ने की निरन्तर अभीप्सा करते हैं। यह और केवल इसके परे तथा कहीं और किसी पूर्णता को पाने की चाह एक सच्चा लक्षण है, सतत पार्थिव क्रमविकास का अर्थ है तथा जन्म और पुनर्जन्म के निरन्तर प्रयास का द्योतक है—यही है पृथ्वी का घुमावदार आरोहण। लेकिन केवल अतिमानस के अवतरण तथा मन और प्राण के आत्म-अतिक्रमण की

उपलब्धि द्वारा ही वस्तुओं में छिपा प्रगति करने का यह गुप्त आशय, 'आत्मा' तथा 'प्रकृति' का यह रहस्यमय अर्थ पूरी तरह से उद्घाटित हो जाता है और इसे इसकी सम्पूर्णता में चरितार्थ किया जा सकता है। अतिमानस का क्रमविकासात्मक पहलू और अर्थ यही है, लेकिन वस्तुतः, अतिमानस का यह शाश्वत सिद्धान्त जड़-भौतिक जगत् में भी छिपा हुआ है, समस्त सृष्टि का यह गुह्य आधार है, ऊपर से दीखने वाले अवचेतन जगत् में भी अतिमानस ही चेतना के आविर्भाव को सम्भव और निश्चित बनाता है और यही 'प्रकृति' को बाध्य करता है कि वह परम आध्यात्मिक 'वास्तविकता' की ओर उठे। वस्तुतः, अतिमानस पहले से ही और हमेशा से हमारे लोक का एक अन्तर्व्याप्त स्तर, 'आत्मा' तथा 'जड़-भौतिक' के बीच की कड़ी रहा है, वह अपने सत्य और अपनी वास्तविकता को यहाँ धारण करता है और यह निश्चिति देता है कि ब्रह्माण्ड का समस्त अर्थ और लक्ष्य वही है।

अगर हम क्रमविकास के अपने वर्तमान विचारों को न मानें तो सब कुछ बदल जाता है —हाँ, अगर हम जीवन तथा उसके रूप को आधारभूत तथा तात्त्विक क्रमविकासात्मक सिद्धान्त न मान कर चेतना को मानें और यह मानें कि चेतना का आविर्भाव और उसकी सम्भावनाओं का पूर्ण विकास ही क्रमविकासात्मक उद्वेग का लक्ष्य है तो बात दूसरी है। 'जड़-भौतिक' की अवचेतना दुर्लभ बाधा नहीं हो सकती; क्योंकि इस अवचेतना के अन्दर एक कुण्डलित चेतना को खोजा जा सकता है जिसे जगाना होगा, जीवन तथा मन उस क्रमविकासात्मक जागरण के साधन हैं; अतिमानस के अन्दर जो सहजात प्रबुद्ध 'सत्य'-चेतना है उसी का पूर्ण उद्घाटन और उसकी सम्पूर्णता तथा सर्वांगीणता को यहाँ धरती पर लाना होगा...।

चीजों को इस तरह देखने पर विश्व अपनी एकता तथा सम्पूर्णता में एक 'सत्ता' के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करेगा, 'प्रकृति' उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति के रूप में, क्रमविकास यहाँ 'जड़-भौतिक' में क्रमशः आत्म-विकास के रूप में प्रकट होगा। हम यहाँ जगत् की भागवत शृंखला को 'जड़-भौतिक' से परम 'आत्मा' तक एक चढ़ती हुई सीढ़ी के रूप में देखेंगे; तब यह सम्भावना होगी कि वह परम चेतना सचेतन रूप से स्वयं को अभिव्यक्त करे, फिर वह अवगुण्ठन में न छिपी रहे, तब वह अपनी शक्तियों की सम्पूर्णता में इस 'जड़-भौतिक' के निम्नतम जगत् में भी उतर आयेगी। तब जगत् की पहली पहली न रहेगी; चीजों का सन्देहास्पद रहस्य, उनकी अस्पष्टता, उनकी जटिल लिपि सुस्पष्ट और सुबोध्य बन जायेगी। इस प्रकटन में अतिमानस अपना स्वाभाविक स्थान पा लेगा और फिर वह उस समझ या उस बुद्धि के लिए शंका तथा प्रश्न का विषय न बना रहेगा जो जगत् की जटिलताओं से भौचक्की बनी रहती है; तब वह उसे मन, जीवन तथा जड़-भौतिक की प्रकृति के अपरिहार्य परिणाम के रूप में देखेगी। वह समझ जायेगी कि अतिमानस ही उनका सच्चा अर्थ है, उनका अन्तर्भूत सिद्धान्त तथा उनकी प्रवृत्तियाँ हैं, उनकी अपूर्णता की आवश्यक पूर्णता है, वह पर्वत-शिखर है जिस पर सब चढ़ रहे हैं, भागवत अस्तित्व की निष्पत्ति, वह चेतना तथा आनन्द है जिसकी ओर हम गति कर रहे हैं, वस्तुओं के जन्म का अन्तिम परिणाम तथा इस वर्धनशील अभिव्यक्ति का चरम लक्ष्य

है जिसे हम यहाँ जीवन में देखते हैं।

अतिमानस का सम्पूर्ण आविर्भाव तभी हो सकता है जब एक अधिराज अभिव्यक्ति हो, पार्थिव चेतना में उसका अवतरण हो, उसकी शक्तियों को ग्रहण करने की पूर्ण स्वीकृति हो, उसके रूपों का उद्घाटन हो तथा एक अतिमानसिक जाति तथा अतिमानसिक जीवन की सृष्टि हो: 'प्रकृति' में इसका सम्पूर्ण परिणाम वस्तुतः तभी दीखेगा। लेकिन पृथ्वी के अतीत में क्रमविकासात्मक 'प्रकृति' का यह अभ्यास नहीं रहा है और यह भी बहुत सम्भव है कि यह अतिमानसिक क्रमविकास अपना समय निश्चित करे, यद्यपि यह विकास पृथ्वी पर अब तक हुए क्रमविकासों की न्याईं क्रतई न होगा, क्योंकि जगत् ऐसे क्रमविकास का साक्षी कभी नहीं रहा। लेकिन एक बार यह शुरू हो जाये तो सभी को अपरिहार्य और पूर्ण रूप से इसे अभिव्यक्त करना होगा और 'प्रकृति' के सभी भागों को महानतम सम्भव ज्योतिर्मयता तथा पूर्णता की ओर बढ़ना होगा। यही निश्चिति हमें इस विश्वास का अधिकार देती है कि मन तथा मानवजाति भी उस सिद्धि की ओर झुकेंगे जिसकी कल्पना हमारी वर्तमान पूर्णता सपने में भी नहीं कर सकती। हमारे पार्थिव अज्ञान की वर्तमान अस्त-व्यस्तता तथा परेशानी का स्थान प्रकाश का मन ले लेगा; यह भी सम्भव है कि मानवता के वे भाग भी, जो इस तक पहुँच नहीं सकेंगे, फिर भी वे इसकी सम्भावना के प्रति अभिज्ञ हो जायेंगे और इसकी ओर सचेतन रूप से झुकेंगे; न केवल इतना ही, बल्कि इस उज्ज्वल सिद्धान्त द्वारा मानवजाति का जीवन प्रदीप्त हो उठेगा, ऊपर उठ जायेगा, इसी के द्वारा शासित होगा और इसी के द्वारा सुसमन्वित भी, यहाँ तक कि शरीर भी अपनी प्रवृत्ति में इतना शक्तिहीन, अन्धकारमय और पाशविक न रहेगा, बल्कि एक नयी तथा सुसामञ्जस्यमयी पूर्णता पाने में समर्थ हो जायेगा। हमें इसी सम्भावना पर टकटकी बाँधनी है और इसका अर्थ होगा, प्रकाश में उठायी गयी एक ऐसी मानवता जो आध्यात्मिक-भावापन्न सत्ता बनने और क्रिया करने में समर्थ होगी, जो 'सत्य'-चेतना के प्रकाश के प्रति उद्घाटित होगी, मानसिक स्तर पर तथा अपनी व्यवस्था में भी वह उस चीज़ को अपने जीवन में उतारने में सक्षम होगी जिसे दिव्यतापूर्ण जीवन का प्रारम्भ कहा जा सकता है।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५७८-८४

श्रीअरविन्द

एक साधक के नाम पत्र

(ये पत्र आश्रम के एक ऐसे साधक के नाम हैं जो १९३० के दशक में श्रीअरविन्दाश्रम की गायों, बैलों और गाड़ियों की देखभाल करते थे।)

ग्वाले ने बैलों के लिए विशेष नयी रस्सियाँ तैयार की हैं। जब बैल काम कर रहे हों तो ये रस्सियाँ ज़्यादा सुरक्षित होंगी। जैसे ही काम पूरा हो जायेगा, रस्सियाँ निकाल दी जायेंगी। ये रस्सियाँ सख्त नहीं, ढीली हैं इसलिए बैलों को तकलीफ़ न होगी।
कृपया स्वीकृति प्रदान करें।

मेरा खयाल है कि बैलों ने रस्सी लगाने का सख्त विरोध किया था। हो सकता है कि वे सख्त न हों पर अधिक सम्भव यह है कि उनसे बैलों की नाक ख़राब हो जायेगी। इस मामले में भी मुझे लगता है कि यह प्रशिक्षण की बात है।

८ मई १९३२

मैं आपके अवलोकनार्थ ये तथ्य आपकी सेवा में प्रस्तुत करना चाहता हूँ: 'क' के गाड़ीवालों में सबसे छोटे और दुर्बल बैल भी ६०० डेम रेत ले जाते हैं।

तुम उसकी बात ही कैसे कर सकते हो! क्या तुम जानते हो कि यहाँ के गाड़ीवान अपने बैलों को कुछ ही महीनों में या उससे भी कम में कैसे मार डालते हैं?

११ मई १९३२

कल छुट्टी होगी। गाड़ी की मरम्मत परसों की जा सकेगी।

कल शहर में बहुत भीड़ होगी, इसलिए तुम्हें कृषि-वाटिका से बैल ले जाते और लाते समय बहुत सावधान रहना होगा।

१३ जुलाई १९३२

कल रात मज़दूर नहीं आया। वह बस खाने की नाँदें बैलों के आगे रख कर चला गया। वह सन्तोषजनक ढंग से काम नहीं कर रहा। वह चीज़ों को साफ़ भी नहीं रखता। चूँकि ज़्यादा अच्छा आदमी नहीं मिल रहा इसलिए मैं इसी से काम चला रहा हूँ।

ऐसा लगता है कि बैलों को यह आदमी पसन्द है और यही सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है। सफ़ाई निरीक्षण पर निर्भर करती है।

१५ जुलाई १९३२

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ओजस्^१ ने कुछ तंग किया। ये बैल काफ़ी बुद्धिमान हैं और आदमियों के हेर-फेर को अनुभव करते हैं। यह नया आदमी निष्णात नहीं है और फिर उसके चारों ओर कुछ पाशविक चीज़ है। तुम्हें उस पर कड़ी नज़र रखनी होगी। मुझे उसका बैलों के साथ व्यवहार करने का तरीका पसन्द नहीं है।

मैं उसके बैलों की दुम मरोड़ने के तरीके का बहुत ज़ोर से विरोध करती हूँ। अगर कोई इसी तरह उसका हाथ या पाँव मरोड़े तो वह क्या कहेगा? और मुझे विश्वास है कि हमारे बैल उसकी अपेक्षा अधिक संवेदनशील हैं।

३ सितम्बर १९३२

मैंने छत पर से सारी चीज़ देखी है और अन्तर्दृष्टि से भी देखी। वहाँ जो हो रहा है उसके बारे में ज़रा भी सन्देह नहीं है और मैं फिर से एक बार तुम्हें समझाने की कोशिश करूँगी।

बैल शरीर नहीं हैं। इसके विपरीत, वे बहुत अच्छे और शान्त जानवर हैं, लेकिन हैं बहुत संवेदनशील—शायद असाधारण रूप से संवेदनशील—(लेकिन इसके बारे में मुझे पूरा विश्वास नहीं है क्योंकि मैंने और बैलों को इस तरह नज़दीक से नहीं देखा है)। सच्चाई तो यह है कि उन्हें वर्तमान गाड़ीवान पसन्द नहीं है और वे उस पर विश्वास नहीं करते, और यह **बिना कारण के नहीं है**। जब वे पिछले गाड़ीवान के साथ काम करते थे तो वे सुखी और प्रसन्न थे और अच्छा काम करते थे। जब से उन्हें इस आदमी ने हाँकना शुरू किया है, वे दुःखी और निरुत्साहित रहते हैं और अनमने होकर काम करते हैं। मैं और कोई उपाय नहीं देखती; इस आदमी को बदल दो और ज़्यादा अच्छा आदमी तलाश करो।

उन्हें डरा-धमका कर वश में करने का प्रस्ताव स्वीकार करने-योग्य नहीं है। इस तरह शायद एक प्रकार की वश्यता प्राप्त की जा सकती है, लेकिन वह होगी बुरे-से-बुरे प्रकार की। पशु अधिकाधिक विश्वास, आनन्द और शान्ति खो बैठते हैं और अन्त में उनका बल और स्वास्थ्य भी जाता रहता है।

साधक होने का लाभ ही क्या यदि, जब हम कुछ कार्य करें तो उसी तरह करें जैसे कोई साधारण अज्ञानी मनुष्य करता है?

विषय को समाप्त करते हुए मैं तुमसे यह भी कह दूँ कि छत पर से मैंने बैलों पर शक्ति एकाग्र की और उन्हें आज्ञा दी कि वे झुक जायें और आज्ञा मानें और मैंने उन्हें **काफ़ी ग्रहणशील** पाया। **स्थिर, अचञ्चल, निष्कम्प, सचेतन इच्छा-शक्ति** का उपयोग यही है, एकमात्र मार्ग,

^१ एक बैल का नाम।

सच्चा और वास्तव में प्रभावकारी मार्ग जो दिव्य जीवन की अभीप्सा करने वाले के योग्य है।

मैं आशा करती हूँ कि इस बार मैंने अपनी बात स्पष्ट कर दी है।

१४ सितम्बर १९३२

मुझे लगता है कि, कम-से-कम कुछ समय के लिए, हर रोज़ अधिक काम न करवाना ज़्यादा अच्छा होगा क्योंकि 'ओजस्' को सचमुच आराम की ज़रूरत होगी। मुझे नहीं लगता कि नया आदमी पिछले से कुछ ज़्यादा अच्छा है। वह बहुत ज़्यादा सशंक और बेचैन है। अगर वह बैलों के साथ व्यवहार में ज़रा अधिक स्थिर और शान्त हो सके तो वे निश्चय ही कहीं अधिक मन लगा कर काम करेंगे।

२२ सितम्बर १९३२

मेरा खयाल है कि बैलों के लिए चक्की चलाने का काम बहुत ज़्यादा घृणित है, और यह उनकी प्राण-शक्ति को कम कर देता है और उन्हें बहुत जल्दी बूढ़ा बना देता है। इसलिए मैं नहीं चाहती कि उन्हें यह काम दिया जाये।

११ जनवरी १९३३

शनिवार, १४वीं तारीख, पशुओं के त्योहार का दिन है। साधारणतः सभी जगह इस दिन बहुत कुछ किया जाता है। सींग लाल और नीले रँगे जाते हैं, उन्हें कोई काम नहीं दिया जाता आदि। मैं ये बातें इसलिए नहीं कह रहा कि अपने जानवरों के साथ भी यही सब करने की स्वीकृति लूँ। लेकिन मैं इसके साथ एक हार भेज रहा हूँ और आपकी अनुग्रहपूर्ण स्वीकृति माँगता हूँ कि इस तरह की चीज़ उस दिन हमारे प्यारे 'रा' ^१ के गले में पहनायी जा सके।

हाँ, हार अच्छा है, तुम उसे पहना सकते हो परन्तु सींगों पर रँगाई नहीं, वह बहुत भद्दी होती है! और मेरा खयाल है कि तुम्हें सावधानी बरतनी चाहिये कि उस दिन 'रा' को सड़क पर न निकालो क्योंकि सामान्यतः बच्चे बछड़ों के पीछे भागते और उन्हें बहुत डराते हैं और कभी-कभी घायल भी कर देते हैं।

१२ जनवरी १९३३

क्या १९ चक्कर बैलों के लिए बहुत ज़्यादा नहीं हैं? मुझे लगता है कि उन्हें बहुत आराम नहीं मिल रहा।

८ जून १९३३

^१ एक बछड़ा।

बात क्या है? अगर गाड़ीवान ने कोई भूल की है या बैलों के साथ दुर्व्यवहार किया है तो मुझे **मालूम होना चाहिये**। मैं **इस तरह के गोपनों** को नहीं सह सकती।

७ अगस्त १९३३

मैं समझाऊँगा कि क्या हुआ था। 'क' गाड़ी के साथ था, लेकिन जैसा कि वह स्वयं कहता है, वह पूरी तरह से शतरंज की एक बाज़ी को सुलझाने की सोच में डूबा हुआ था, इसलिए उसे तब तक पता न लगा जब तक गाड़ी उतर कर ज़मीन पर न आ रही।

मेरी समझ में नहीं आता कि शतरंज की बाज़ी का काम या साधना के साथ क्या सम्बन्ध है? 'क' यहाँ शतरंज की बाज़ी हल करने के लिए है क्या? यह तो वह कहीं अन्यत्र भी कर सकता है।

२६ अगस्त १९३३

मुझे खेद है कि 'क' के बारे में मुझे यह विवरण देना पड़ रहा है। शाम को ५.१० पर उसने बिना कारण 'रा' को अपने जूते के तल्ले से, उसके छप्पर के नीचे पीटा। मैंने यह 'बा' के छप्पर से देखा। उसने पाँव से चप्पल उतार कर हाथ में ली और 'रा' के मुख पर और चेहरे पर मारी। उसने खाने की नाँद के पास दो टोकरियाँ रखी थीं। एक में केले के छिलके थे, दूसरी में तरकारी के। 'रा' ने उस तरह नहीं खाया जैसे वह खिलाना चाहता था। यही उसकी भूल थी। जब मैंने दौड़ कर उससे पूछा तो उसने कोई जवाब देने की परवाह न की। नौकरों का कहना है कि उसने पहले भी 'रा' को इस तरह पीटा है। ऐसा लगता है कि वह इस तरह उसे वश में करना चाहता है।

अगर वह सचमुच ऐसा करता है तो यह पाशविक और मूढ़तापूर्ण है। इस तरह वह उस बछड़े का सिर ख़राब करने के साथ-साथ—जो पहले ही काफ़ी ख़राब है—उसे प्रतिशोधी और हिंसापूर्ण बना देगा जो और भी ज़्यादा बुरा है।

१८ नवम्बर १९३३

मुझे लगता है कि तेजस्^१ **बहुत दुबला हो गया है**। निश्चय ही वह बीमार है और उसकी ओर ध्यान देने की ज़रूरत है। मैं डॉक्टर से जानना चाहूँगी कि क्या उसके लिए यह ज़्यादा अच्छा न होगा कि वह किसी चरागाह में स्वतन्त्रता से कुछ समय तक घूमा करे ताकि हवा, धूप में और बिना काम किये उसका चलना-फिरना हो सके। यह प्रश्न डॉक्टर के सामने स्पष्ट रूप से

^१: एक बैल का नाम।

रखा जाये और उससे ठीक-ठीक उत्तर माँगा जाये। अब तो यह भली-भाँति जानी-मानी बात है कि बीमारियों का—चाहे वे कोई-सी क्यों न हों—हवा और धूप से अच्छा इलाज कोई नहीं है।
१ फ़रवरी १९३४

मेरा खयाल था कि नगर-पालिकावालों को या औरों को इसमें कोई आपत्ति न होगी कि हम फुटपाथ की दीवार पर अपनी गाय बाँधने के लिए एक छल्ला लगा दें। मैं एक ऐसा छल्ला लगाना चाहता हूँ।

नगर-पालिका के नियमों में इसकी सख्त मनाही है और अगर हमने ऐसी कोई चीज़ की भी है तो यह एक **बड़ी भूल** थी और मेरा इरादा है कि उसे **फिर कभी न दोहराया जाये**।
१० मार्च १९३४

‘क’ नामक लड़के को, जो गृह-निर्माण-विभाग में काम कर रहा था, दो दिन पहले निकाल दिया गया—चोरी के अपराध में नहीं बल्कि गाड़ी को लापरवाही से चलाने के कारण, जिससे एक कुत्ते को ज़रा-सी चोट आ गयी थी। क्या मैं उसे उसके भाई के स्थान पर रख सकता हूँ?

हर्गिज़ नहीं।

अगर आप स्वीकृति देने की कृपा करें, यह केवल एक ही दिन के लिए है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। वह बड़ा अच्छा काम करता है। मैं आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा में रहूँगा।

नहीं, वह बहुत जंगली है। जो लड़का लगभग जान-बूझकर कुत्ते को घायल कर सकता है वह गाय और बछड़े के साथ भी ऐसा ही कर सकता है।

इस लड़के को **मेरी आज्ञा** से निकाला गया है और उसे आश्रम में काम नहीं दिया जा सकता।

जो मनुष्य पशुओं के साथ क्रूर होता है वह पशु से बदतर है।

२ अप्रैल १९३४

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. ११९-२५

आध्यात्मिक खोज का सच्चा उद्देश्य

सचमुच आध्यात्मिक सत्य और आध्यात्मिक जीवन को खोजने का पहला कारण या लक्ष्य है, भगवान् को पाना; यह एकमात्र अनिवार्य वस्तु है और बाक़ी सब इसके बिना कुछ नहीं है। एक बार भगवान् मिल जायें तो उन्हें अभिव्यक्त करना—यानी पहले-पहल अपनी सीमित चेतना को भागवत चेतना में रूपान्तरित करना, अनन्त शान्ति, ज्योति, प्रेम, बल, आनन्द में जीना, अपनी तात्त्विक प्रकृति में वही बन जाना और परिणाम-स्वरूप अपनी सक्रिय प्रकृति में उसका पात्र, वाहिनी और यन्त्र बनना। जड़-भौतिक स्तर पर एकत्व के तत्त्व को सक्रिय बनाना या मानवजाति के लिए कार्य करना—यह सत्य का अशुद्ध मानसिक अनुवाद है; ये चीज़ें आध्यात्मिक प्रयास का पहला सच्चा लक्ष्य नहीं हो सकतीं। पहले हमें आत्मा को, भगवान् को खोजना होगा, उसके बाद ही हम यह जान सकते हैं कि वह कौन-सा काम है जिसके लिए आत्मा या भगवान् हमसे माँग करते हैं। तब तक हमारा जीवन और कर्म भगवान् को पाने के साधन या उसमें सहायक हो सकते हैं। इसके सिवा इनका कोई और लक्ष्य नहीं होना चाहिये। जैसे-जैसे हम आन्तरिक चेतना में बढ़ते हैं या भगवान् का आध्यात्मिक सत्य हमारे अन्दर विकसित होता है, वैसे-वैसे हमारा जीवन और हमारा कर्म वस्तुतः उसी से अधिकाधिक प्रवाहित होना, उसके साथ एक हो जाना चाहिये। लेकिन अपनी सीमित मानसिक धारणाओं द्वारा पहले से ही यह निश्चय करना कि उन्हें क्या होना चाहिये, आन्तरिक आध्यात्मिक सत्य के विकास में बाधा पहुँचाना है। उसके विकास के साथ-साथ हम अपने अन्दर दिव्य ज्योति, सत्य, दिव्य शक्ति, सामर्थ्य, दिव्य शुद्धि और शान्ति को काम करते हुए, हमारे कर्मों और हमारी चेतना के साथ व्यवहार करते, उन्हें हमें दिव्य मूर्ति की तरह गढ़ते, कूड़े-करकट को साफ़ करते और उसके स्थान पर आत्मा के शुद्ध स्वर्ण को लाते हुए अनुभव करेंगे। केवल तभी जब हमारे अन्दर सदा-सर्वदा दिव्य उपस्थिति रहे और हमारी चेतना रूपान्तरित हो जाये, हम यह कहने का अधिकार पा सकते हैं कि हम भौतिक स्तर पर भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए तैयार हैं। किसी मानसिक आदर्श या सिद्धान्त को लेकर उसे आन्तरिक क्रियाओं पर आरोपित करना अपने-आपको मानसिक उपलब्धि तक सीमित कर लेने का खतरा मोल लेना होता है या अधकचरे रूपायण द्वारा पूर्ण घनिष्ठता तथा ऐक्य में भगवान् के साथ के सच्चे विकास और हमारे जीवन में उनकी इच्छा के मुक्त और घनिष्ठ प्रवाह में बाधा देना या झुठलाना होता है। यह दिग्विन्यास की भूल है, आज का मानस विशेष रूप से इसकी ओर प्रवृत्त रहता है। इन छोटी-छोटी चीज़ों की ओर मुड़ने की जगह, जो हमें एकमात्र आवश्यक वस्तु की ओर से मोड़ देती हैं, कहीं अधिक अच्छा है शान्ति, प्रकाश या आनन्द के लिए भगवान् की शरण में जाना। जड़-भौतिक जीवन को और साथ ही आन्तरिक जीवन को दिव्य बनाना दिव्य योजना का वह भाग है जिसे हम देख सकते हैं, लेकिन उसे केवल आन्तरिक उपलब्धि के प्रवाह के द्वारा ही परिपूर्ण किया

जा सकता है, किसी ऐसी चीज़ के द्वारा जो अन्दर से बाहर की ओर बढ़ती है, किसी मानसिक सिद्धान्त के कार्यान्वयन द्वारा नहीं।

तुमने पूछा है कि मानसिक खोज को जीवन्त आध्यात्मिक अनुभूति में बदलने के लिए कौन-सी तपस्या या अनुशासन का अनुकरण करना ज़रूरी है। पहली आवश्यकता है अपने अन्दर अपनी चेतना की एकाग्रता का अभ्यास। सामान्य मानव मन की क्रियाशीलता ऊपरी तल पर होती है जो सच्ची आत्मा को ढक देती है। सतह के पीछे एक और छिपी हुई चेतना होती है जिसमें हम सच्ची आत्मा और प्रकृति के अधिक विशाल और गहनतर सत्य के बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं, आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं और प्रकृति को मुक्त और रूपान्तरित कर सकते हैं। इस एकाग्रता का उद्देश्य है ऊपरी मन को निश्चल करना और अन्दर निवास करना शुरू करना। ऊपरी चेतना से भिन्न इस सच्ची चेतना के दो मुख्य केन्द्र हैं, एक हृदय में (शारीरिक हृदय में नहीं बल्कि वक्षस्थल के बीच में हृदय-चक्र में) और दूसरा मस्तिष्क में। हृदय के अन्दर एकाग्रता अन्दर की ओर खुलती है और इस आन्तरिक उद्घाटन का अनुसरण करने और उसकी गहराई में जाने पर व्यक्ति अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष से, यानी व्यक्ति में विद्यमान दिव्य तत्त्व से अभिज्ञ हो जाता है। खुल कर यह सत्ता आगे आना, प्रकृति पर शासन करना, उसे तथा उसकी सभी गतिविधियों को सत्य की ओर, भगवान् की ओर मोड़ना और जो कुछ ऊपर है उस सबको नीचे बुलाना शुरू करती है। वह दिव्य उपस्थिति की चेतना को, सत्ता के अर्पण को उच्चतम की ओर लाती है और महत्तर शक्ति और चेतना की प्रकृति को, जो ऊपर हमारे लिए प्रतीक्षा कर रही है, उसके अवरोहण को निमन्त्रित करती है। हृदय-केन्द्र में एकाग्र होना और अपने-आपको भगवान् के अर्पण करना और इस आन्तरिक उद्घाटन के लिए और हृदय में दिव्य उपस्थिति के लिए अभीप्सा करना पहला तरीका है, और इसे किया जा सके तो यह स्वाभाविक प्रारम्भ है; क्योंकि इसका परिणाम, एक बार प्राप्त हो जाये तो यह आध्यात्मिक पथ को दूसरे मार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और सुरक्षित बना देता है।

एक दूसरा मार्ग है मस्तिष्क में, मानसिक केन्द्र में, एकाग्रता। अगर यह ऊपरी तल के मन में निश्चल-नीरवता ला सके तो वह एक आन्तरिक, विशालतर और गहनतर मन को खोलता है जो आध्यात्मिक अनुभूति और आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करने में अधिक सक्षम होता है। लेकिन एक बार यहाँ एकाग्र होकर हमें नीरव मानसिक चेतना को ऊपर की ओर उन सभी चीज़ों के प्रति खोलना चाहिये जो मन के ऊपर हों। कुछ समय के बाद मनुष्य यह अनुभव करता है कि चेतना ऊपर उठ रही है और अन्त में वह उस ढक्कन के ऊपर उठ जाती है जो उसे इतने लम्बे समय तक शरीर से बाँधे रहा और फिर मस्तिष्क के ऊपर एक चक्र को पाती है जहाँ वह अनन्त में मुक्त हो जाती है। वहाँ वह वैश्व आत्मा, दिव्य शान्ति, प्रकाश, शक्ति, ज्ञान, आनन्द के सम्पर्क में आना, उसके अन्दर प्रवेश करना, वही बन जाना, इन चीज़ों को अपनी प्रकृति के अन्दर अवतरित होते हुए अनुभव करना शुरू करती है। मन में अचञ्चलता की अभीप्सा के लिए और ऊपर आत्मा तथा भगवान् की अनुभूति की उपलब्धि के लिए सिर

में एकाग्र होना—यह एकाग्रता का दूसरा मार्ग है। लेकिन यह याद रखना ज़रूरी है कि सिर में चेतना की एकाग्रता उसके ऊपर के केन्द्र में चढ़ने की तैयारी-मात्र है। अन्यथा व्यक्ति अपने ही मन और उसकी अनुभूतियों में बन्द रह जायेगा या बहुत हुआ तो आध्यात्मिक परात्परता तक उठने और उसमें निवास करने की जगह ऊपर के सत्य की प्रतिच्छाया तक ही पहुँच पायेगा। कुछ लोगों के लिए मानसिक एकाग्रता अधिक सरल है, कुछ औरों के लिए हृदय-केन्द्र में एकाग्रता ज़्यादा सरल होती है और कुछ लोग बारी-बारी से दोनों कर सकते हैं—लेकिन अगर कर सको तो हृदय-केन्द्र से शुरू करना ज़्यादा वाञ्छनीय है।

इस अनुशासन या तपस्या का दूसरा पहलू प्रकृति की, मन की, प्राण-पुरुष या प्राण और भौतिक सत्ता की क्रियावली से सम्बन्ध रखता है। यहाँ सिद्धान्त है प्रकृति को आन्तरिक अनुभूति के साथ समस्वर कर देना ताकि साधक दो असंगत भागों में विभक्त न हो जाये। यहाँ कई प्रकार की तपस्याएँ या पद्धतियाँ सम्भव हैं। एक है अपने समस्त क्रिया-कलाप भगवान् को समर्पित कर देना और आन्तरिक पथ-प्रदर्शन का आह्वान करना कि एक उच्चतर शक्ति आकर तुम्हारी प्रकृति को अपने हाथ में ले ले। अगर अन्दर की ओर आत्मा का उद्घाटन न हो जाये, अगर चैत्य पुरुष सामने आ जाये तब फिर कोई बड़ी कठिनाई नहीं रहती—उसके साथ-ही-साथ आ जाता है चैत्य विवेक, सतत सूचना और अन्त में ऐसा शासन जो सभी अपूर्णताओं को खोलता, चुपचाप धैर्य के साथ उन्हें दूर करता, उचित मानसिक और प्राणिक गतिविधियों को लाता और भौतिक चेतना को भी नया रूप देता है। एक और उपाय है; मन, प्राण और शरीर की सत्ताओं से दूर खड़े रहो, उनकी क्रियाओं को व्यक्ति के अन्दर व्यापक प्रकृति पर पिछले कर्मों द्वारा आरोपित अभ्यासगत रूपायण मानो, सच्ची सत्ता का भाग नहीं। मनुष्य इसमें जितना सफल होता है उसी अनुपात में वह अनासक्त होता है, मन और उसकी क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं, प्राण और उसकी क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं, शरीर और उसकी क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं रखता। वह अपने अन्दर एक आन्तरिक सत्ता —आन्तरिक मन, आन्तरिक प्राण और आन्तरिक शरीर—के बारे में अभिज्ञ हो जाता है जो नीरव-निश्चल, स्थिर, अपार, अनासक्त होता है और ऊपर की सच्ची आत्मा को प्रतिबिम्बित करता है, वह उसका प्रत्यक्ष प्रतिनिधि भी हो सकता है। इस आन्तरिक निश्चल-नीरव 'सत्ता' से उन सब चीज़ों का त्याग शुरू होता है जिन्हें त्यागना चाहिये और उन्हीं चीज़ों की स्वीकृति होती है जिन्हें रखा और रूपान्तरित किया जा सकता है—पूर्णता के लिए अन्तरतम 'इच्छा' या 'दिव्य शक्ति' को आवाहन ताकि वह पग-पग पर वह करे जिसका करना प्रकृति के परिवर्तन के लिए ज़रूरी है। वह मन, प्राण और शरीर को अन्तरतम चैत्य सत्ता और उसके पथ-प्रदर्शक प्रभाव या सीधे पथ-प्रदर्शन की ओर खोल भी सकती है। अधिकतम उदाहरणों में ये दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ उभरती हैं, साथ ही काम करती और अन्त में एक हो जाती हैं। लेकिन व्यक्ति दोनों में से किसी भी पद्धति से शुरू कर सकता है, जो उसे सबसे अधिक स्वाभाविक और सरल मालूम होती हो।

और अन्त में, सभी कठिनाइयों में, जहाँ व्यक्तिगत प्रयास में बाधा पड़ती है, गुरु की सहायता हस्तक्षेप कर सकती है और उस चीज़ को ला सकती है जिसकी उपलब्धि के लिए आवश्यकता हो या जो अगले ही चरण के लिए ज़रूरी हो।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६-८

श्रीअरविन्द

स्त्री और पुरुष

सबसे पहले हम यह मान कर ही चलें कि अभिमान और अविवेक हमेशा हास्यास्पद चीज़ें होती हैं। सिर्फ़ मूर्ख और अज्ञानी ही अक्खड़ और घमण्डी होते हैं। जैसे ही मनुष्य इतना प्रबुद्ध हो जाये कि वह, चाहे कितना भी कम क्यों न हो, विश्व के सर्वव्यापक रहस्य के साथ नाता जोड़ सके, वह निश्चित रूप से नम्र हो जाता है।

स्त्री अपनी सहिष्णुता के कारण ही पुरुष की अपेक्षा ज़्यादा सरलता के साथ सृष्टि में कार्यरत परमा शक्ति का सहज बोध प्राप्त कर लेती है और प्रायः, स्वभावतः अधिक नम्र होती है।

लेकिन नम्रता के इस तथ्य को आवश्यकता कहना ग़लत है। पुरुष को स्त्री की जितनी आवश्यकता होती है, स्त्री को पुरुष की उससे ज़्यादा आवश्यकता नहीं होती; बल्कि ज़्यादा ठीक यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से एक-दूसरे की आवश्यकता होती है।

शुद्ध भौतिक क्षेत्र में भी स्त्रियाँ भौतिक रूप से पुरुषों पर जितनी निर्भर हैं उतने ही पुरुष स्त्री पर निर्भर होते हैं। अगर नम्रता इस निर्भरता का परिणाम होती तो जहाँ पुरुष नारी पर निर्भर हैं वहाँ पुरुषों को नम्र और स्त्रियों को अधिकारशील होना चाहिये था।

और फिर, यह कहना कि स्त्रियों को विनम्र होना चाहिये क्योंकि इसी तरह से वे पुरुषों को खुश करती हैं, भी ग़लत है। इससे तो यही समझा जायेगा कि स्त्री को धरती पर इसीलिए बनाया गया है ताकि वह पुरुषों को खुश करे—और यह वाहियात है।

सारा विश्व भागवत शक्ति को प्रकट करने के लिए रचा गया है। और मनुष्यों का, स्त्रियों या पुरुषों का, यह विशेष उद्देश्य है कि वे उस 'अनन्त भागवत तत्त्व' के बारे में सचेतन हों और उसे अभिव्यक्त करें। उनका लक्ष्य यही है, कोई दूसरा नहीं। अगर वे, स्त्री और पुरुष, इस बात को जानें और अधिकाधिक याद रख सकें तो वे प्राथमिकता या अधिकार के तुच्छ झगड़ों के बारे में सोचना बन्द कर देंगे और सेवा करने की अपेक्षा, सेवा करवाने में अधिक प्रतिष्ठा न देखेंगे, क्योंकि तब सब अपने-आपको समान रूप से भगवान् का सेवक मानेंगे और हमेशा पहले से ज़्यादा और पहले से अच्छी तरह सेवा करने में ही अपनी प्रतिष्ठा मानेंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १६७-६८

शरीर की साधना

शरीर की पूर्णता ही, अभी हमें जो साधन प्राप्त हैं उनके द्वारा जितनी अधिक पूर्णता प्राप्त करना हमारे लिए सम्भव हो उतनी पूर्णता प्राप्त करना ही शारीरिक अनुशीलन का अन्तिम उद्देश्य होना चाहिये। पूर्णता ही सब प्रकार के अनुशीलनों का, आध्यात्मिक और आन्तरात्मिक, मानसिक तथा प्राणिक अनुशीलनों का सच्चा उद्देश्य है और यही हमारे शारीरिक अनुशीलन का भी उद्देश्य होना चाहिये। अगर हम अपनी सत्ता की सर्वांगीण पूर्णता सिद्ध करने का प्रयास करते हों तो हम उसके भौतिक अंग की, शरीर की उपेक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि शरीर ही भौतिक आधार है, शरीर ही वह साधन है जिसका हमें उपयोग करना है।...

CWSA खण्ड १३, पृ. ५२१

एक विशेष दिशा में हमारी चेतना अवश्य वर्धित होनी चाहिये और वह यह है कि अपने शरीर पर, उसकी क्रियाओं पर तथा हमारी सत्ता के उच्चतर अंशों के प्रति शरीर का जो अधिक सचेतन प्रत्युत्तर हो उसके ऊपर अन्दर से या ऊपर से पड़ने वाला हमारा अधिकार निरन्तर बढ़ता रहे। मन ही प्रधानतया मनुष्य है; वह मनोमय पुरुष है और जितना ही अधिक वह उपनिषद् के वर्णन को अपने जीवन में सिद्ध करता है, मनोमय पुरुष, प्राण और शरीर का नेता बनता है, उतनी ही अधिक उसकी मानव पूर्णता बढ़ती है। अगर मन प्राणशक्ति, सूक्ष्म शारीर चेतना और शरीर की सहज प्रेरणाओं और यन्त्रवत् क्रियाओं को अपने हाथ में ले और उन्हें संयमित करे, अगर वह उनके अन्दर प्रवेश करे, ज्ञानपूर्वक उनका व्यवहार करे, और जैसा कि हम कह सकते हैं, उनके सहज-प्रेरणात्मक या यन्त्रवत् कार्यों को पूर्णतः मनोमय रूप दे दे तो इन शक्तियों की पूर्णता, उनकी क्रिया भी अधिक सचेतन और अपने विषय में अधिक सज्ञान और अधिक पूर्ण बन जाती है।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५३०

आज मन के वर्तमान क्रमविकास की सीमाओं के अन्दर भी यह अन्दाज़ लगाना कठिन है कि किस हद तक मन शरीर की शक्तियों और क्षमताओं के ऊपर अपने अधिकार को फैलाने और उनका उपयोग करने में समर्थ हो सकता है और जब मन और भी उच्चतर शक्तियों को प्राप्त होता है और अपनी मानव सीमाओं को पीछे फेंक देता है तब तो किसी प्रकार की सीमा बाँधना असम्भव हो जाता है; कुछ अनुभूतियों में तो शरीर के अंगों की अपने-आप होने वाली क्रियाओं में संकल्प-शक्ति का हस्तक्षेप करना भी सम्भव प्रतीत होता है।

जहाँ कहीं सीमाएँ दूर होती हैं या जिस परिमाण में दूर होती हैं वहाँ शरीर आत्मा के कार्य का एक अधिक नमनीय और अनुगत तथा उसी परिमाण में अधिक योग्य और पूर्ण यन्त्र

बन जाता है।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५३०

अगर शरीर थकावट के कारण या स्वाभाविक अयोग्यता के कारण या किसी दूसरे कारण से विचार या संकल्पशक्ति का अनुमोदन करने में असमर्थ हो या किसी तरह अनुगत न हो या अपर्याप्त रूप में अनुगत हो तो उस हद तक कर्म असफल हो जाता है या अधूरा रह जाता है या कुछ हद तक असन्तोषजनक या अपूर्ण हो जाता है। मनुष्य के अन्दर जो कविता की प्रेरणा प्रवाहित होती है और जो आत्मा का एक कार्य प्रतीत होती है और जो इतनी विशुद्ध मानसिक क्रिया होती है, उसमें भी यह आवश्यक होता है कि मनुष्य के मस्तिष्क में उसे ग्रहण करने वाला एक प्रकम्पन हो और विचार और दर्शन की जो शक्ति और शब्द की जो ज्योति मस्तिष्क के अन्दर से रास्ता बनाती या रास्ता फोड़ती हुई आती है अथवा अपने-आपको पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है उसकी एक प्रणाली के रूप में मस्तिष्क उद्घाटित हो जाये। अगर मस्तिष्क थका हो या किसी अवरोध के कारण मन्द हो गया हो तो या तो वह प्रेरणा आ ही नहीं सकती और कुछ भी नहीं लिखा जा सकता अथवा वह क्षीण हो जाती है और निम्न कोटि की ही कोई चीज़ बस प्रकट हो सकती है; अथवा जो ज्योतिर्मय रचना रूप ग्रहण करने की चेष्टा कर रही थी उसका स्थान कोई दूसरी ही निम्न कोटि की प्रेरणा ग्रहण कर लेती है अथवा मस्तिष्क के लिए किसी कम प्रकाशपूर्ण उद्दीपन की ओर झुकना अधिक आसान हो जाता है अथवा वह परिश्रम करता है और रचता है या कविता के कौशल का प्रत्युत्तर देता है। अत्यन्त विशुद्ध मानसिक क्रियाओं में भी शरीर-रूपी यन्त्र का योग्य होना, तैयार होना या उसका पूर्ण रूप से सुशिक्षित और अभ्यस्त होना अनिवार्य होता है। यह तैयारी, यह अनुकूलता भी शरीर की सर्वांगीण पूर्णता का एक अंग है।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५३०-३१

जो चीज़ मूलतः आध्यात्मिक खोज है उसके अन्दर यदि हम प्राण और जड़तत्त्व को स्वीकार करें, उनका त्याग और अन्त में एकदम बहिष्कार न करें, जैसा कि सांसारिक जीवन से दूर रहने वाली या मुँह मोड़ने वाली एक प्रकार की आध्यात्मिकता का मनोभाव रहा है, तो उससे कुछ ऐसी बातें उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हें पुराने ढंग की आध्यात्मिक संस्था अपने उद्देश्य से विजातीय समझ सकती है। परन्तु इसी संसार में प्राप्त होने वाला दिव्य जीवन या ऐसे जीवन को अपना लक्ष्य और उद्देश्य बनाने वाली कोई संस्था ऐसी चीज़ नहीं हो सकती या बनी रह सकती जो जगत् के साधारण मनुष्यों के जीवन से बाहर हो या उनके लिए एकदम बन्द हो अथवा जिसका सांसारिक जीवन के साथ कोई सम्बन्ध न हो; उसे संसार में ही भगवान् का कार्य करना होगा और ऐसा कोई काम नहीं करना होगा जो संसार से बाहर या अलग हो।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५२४-२५

श्रीअरविन्द

अगर सत्ता का सम्पूर्ण रूपान्तर हमारा लक्ष्य है तो शरीर का रूपान्तर उसका एक अनिवार्य भाग होना चाहिये; उसके बिना धरती पर कोई भी पूर्ण भागवत जीवन सम्भव नहीं होगा।
CWSA खण्ड १३, पृ. ५४० श्रीअरविन्द

वह भी जो नीरवता और एकान्त में पूर्ण निदिध्यासन तक पहुँच गया होगा, वह अपने-आपको शरीर से बाहर निकाल कर, इसकी अवहेलना करके ही ऐसा कर सका होगा; और इस तरह शरीर जिस द्रव्य से बना है वह पहले जैसा अशुद्ध और अपूर्ण ही रह जायेगा क्योंकि उसने अपने शरीर को अपने हाल पर ही छोड़ दिया होगा; और एक विभ्रान्त रहस्यवाद और अतिभौतिक भव्यताओं के आकर्षण द्वारा अपने निजी सन्तोष के लिए तेरे साथ एक हो जाने की अहंकारमयी कामना के कारण उसने अपने पार्थिव जीवन के प्रयोजन की ओर से मुँह मोड़ लिया होगा, भीरु की तरह जड़-पदार्थ का उद्धार करने, उसे पवित्र करने के अपने उद्देश्य से इन्कार कर दिया होगा। यह जानना कि हमारी सत्ता का एक भाग पूरी तरह शुद्ध है, उस शुद्धि के साथ सम्पर्क रखना, उसके साथ एक होना तभी उपयोगी हो सकता है जब हम बाद में इस ज्ञान का उपयोग पार्थिव रूपान्तर को जल्दी लाने के लिए, तेरे उच्चतम कार्य को पूरा करने के लिए करें।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १, पृ. १८

शरीर के कोषाणुओं की प्रार्थना

अब जब भागवत कृपा के प्रभाव से, हम धीरे-धीरे निश्चेतना में से निकल रहे हैं, और एक सचेतन जीवन के प्रति जाग रहे हैं, हमारे अन्दर से अधिक प्रकाश और अधिक चेतना के लिए एक प्रबल प्रार्थना उठती है,

“हे विश्व के परम प्रभो, हम तुझसे याचना करते हैं, हमें वह बल और सुन्दरता, सामञ्जस्यमयी पूर्णता दे जो धरती पर तेरा दिव्य यन्त्र बनने के लिए ज़रूरी है।”

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ११, पृ. ९६

चहुँ ओर से घिरे बन्धनों से विमोचित एक ऊर्जा है
जिसकी ऊँचाई मृत्यु की भूखी पहुँच से परे उठा दी गयी है,
इस जीवन-ऊर्जा के शिखरों पर अमरता के संकल्प प्रज्वलित होंगे,
इसके मूलाधार के अन्धकार को प्रकाश विदीर्ण कर देगा।
तब युगों की विकास-प्रक्रिया में
समष्टि की एक अद्वितीय योजना आँकी जायेगी,
एक दिव्य सहयोगिता इस धरती का तब नवविधान होगी,
सुषमा औ’ हर्ष मिल इस जीवन-पथ को नव-रूप में ढालेंगे :

इस नश्वर देह तक में प्रभु की स्मृति भर जायेगी,
 प्रकृति का स्वभाव मर्त्यता से परे हट जायेगा
 और आत्म-भाव का तेज इस पृथ्वी की अन्धी शक्ति का गुरु होगा;
 आत्मज्ञान मानव के अभीप्सु संकल्प में प्रवाहित हो, ले आयेगा
 प्रभु का सान्निध्य और दिव्य सत्य की उच्च समीपता।

CWSA खण्ड ३४, पृ. ७०६-०७

श्रीअरविन्द

८ फ़रवरी १९७३ का वार्तालाप

क : जब तक हम किसी नयी पद्धति को निश्चित न कर लें, तब तक अपने-आपको तैयार करने का सबसे अच्छा उपाय क्या है?

स्वाभाविक है, अपनी चेतना को विस्तृत और प्रबुद्ध करना—लेकिन यह किया कैसे जाये? तुम्हारी अपनी चेतना... उसे विस्तृत और प्रबुद्ध करना। और, अगर तुम, तुममें से हर एक, अपने चैत्य पुरुष को पा सके और उसके साथ एक हो सके तो सभी समस्याएँ हल हो जायेंगी।

चैत्य पुरुष मनुष्य में भगवान् का प्रतिनिधि है। तो यह बात है, समझे—भगवान् कोई दूर की चीज़ या पहुँच के बाहर नहीं हैं। भगवान् तुम्हारे अन्दर हैं, परन्तु तुम उनके बारे में पूरी तरह सचेतन नहीं हो। बल्कि... अभी वे एक 'उपस्थिति' की बजाय प्रभाव के रूप में काम कर रहे हैं। लेकिन होनी चाहिये एक सचेतन 'उपस्थिति', तुम्हें हर क्षण अपने-आपसे यह पूछ सकना चाहिये, क्या है... कैसे... भगवान् इसे किस तरह देखते हैं। यह ऐसा है : पहले भगवान् कैसे देखते हैं, और फिर भगवान् कैसे चाहते हैं, और फिर भगवान् कैसे कार्य करते हैं। और यह अगम्य क्षेत्रों में जाकर नहीं करना है, ठीक यहीं करना है। केवल, अभी के लिए, समस्त पुरानी आदतों और व्यापक निश्चेतना एक प्रकार का ढक्कन रख देती हैं जो हमें देखने और अनुभव करने से रोकता है। तुम्हें... तुम्हें उसे उठाना, तुम्हें उसे ऊपर उठाना पड़ेगा।

वस्तुतः, तुम्हें सचेतन यन्त्र बनना पड़ेगा... सचेतन... भगवान् के बारे में सचेतन।

साधारणतः इसमें पूरा जीवन लग जाता है, या कभी-कभी, कुछ लोगों को कई जीवन लगते हैं। यहाँ, वर्तमान अवस्था में, तुम इसे कुछ ही महीनों में कर सकते हो। क्योंकि जो... जिनमें तीव्र अभीप्सा है वे कुछ महीनों में कर सकते हैं।

(लम्बा मौन)

क्या तुमने कुछ अनुभव किया?

बिलकुल सच कहो। क्या तुमने कुछ अनुभव किया, या तुम्हारे लिए कोई फ़र्क नहीं पड़ा? पूरी सच्चाई के साथ कहो। हाँ तो? कोई उत्तर नहीं दे रहा। (माताजी हर एक से बारी-बारी से पूछती हैं और सब अपनी प्रतिक्रिया बताते हैं।)

ख: मधुर माँ, मैं जानना चाहता हूँ कि क्या कोई विशेष अवतरण हुआ था?

कोई अवतरण नहीं होता। यह एक और ग़लत विचार है: कोई अवतरण नहीं होता: यह एक ऐसी चीज़ है जो हमेशा यहाँ है लेकिन तुम उसे अनुभव नहीं करते। कोई अवतरण नहीं होता: यह बिलकुल ग़लत विचार है।

क्या तुम जानते हो कि चौथा आयाम क्या होता है? जानते हो वह क्या है?

ख: हमने उसके बारे में सुना है...

क्या तुम्हें अनुभव है?

ख: नहीं, मधुर माँ।

आह! लेकिन वास्तव में आधुनिक विज्ञान का यह सबसे अच्छा प्रस्ताव है: चतुर्थ आयाम। हमारे लिए, भगवान् ही चतुर्थ आयाम हैं... चतुर्थ आयाम के भीतर हैं। वे हर जगह हैं, है न, हर जगह, हमेशा। वे आते-जाते नहीं हैं, वे हैं, हमेशा, हर जगह। यह तो हम, अपनी मूर्खता के कारण उन्हें अनुभव नहीं कर पाते। चले जाने की कोई ज़रूरत नहीं है, बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं।

अपने चैत्य पुरुष के बारे में सचेतन होने के लिए, तुम्हें चतुर्थ आयाम को अनुभव कर सकने के योग्य होना चाहिये, वरना तुम यह नहीं जान सकते कि वह क्या है?

हे भगवान्! सत्तर वर्षों से मैं जानती हूँ कि चतुर्थ आयाम क्या है... सत्तर वर्षों से भी ज़्यादा से!

(मौन)

अनिवार्य, अनिवार्य! जीवन वहीं से शुरू होता है। अन्यथा तुम मिथ्यात्व में, गड़बड़झाले में और भ्रान्ति में और अन्धकार में रहते हो। मन, मन, मन, मन! अन्यथा, अपनी चेतना के बारे में सचेतन होने के लिए, तुम्हें उसे मानसिक रूप देना होगा। यह भयंकर है, भयंकर! ऐसा ही है।

क: माताजी, नया जीवन पुराने का ही प्रवाह नहीं है, नहीं न? वह अन्दर से उमड़ता है।

हाँ, हाँ...

क: दोनों में कोई चीज़ समान नहीं है...

है, है, लेकिन तुम उसके बारे में सचेतन नहीं हो। लेकिन तुम्हें होना चाहिये, होना चाहिये... मन तुम्हें उसे अनुभव करने से रोकता है। तुम्हें होना चाहिये... तुम हर चीज़ को मानसिक रूप दे लेते हो, हर चीज़ को...। तुम जिसे चेतना कहते हो वह चीज़ों के बारे में सोच-विचार है, तुम उसी को चेतना कहते हो: चीज़ों के बारे में सोच-विचार। लेकिन यह वह चीज़ बिलकुल नहीं है, यह चेतना नहीं है। चेतना को बिलकुल विमल और शब्दहीन होना चाहिये।

(मौन)

वहाँ, हर चीज़ ज्योतिर्मयी और ऊष्मा-भरी होती है... बलवान्! और शान्ति, सच्ची शान्ति, जो जड़ता नहीं है, जो निश्चेष्टता नहीं है।

क: और, माताजी, क्या सब बच्चों को यह लक्ष्य के रूप में बताया जा सकता है?

सबको... नहीं। वे सब एक ही उम्र के नहीं हैं, चाहे शारीरिक रूप से उनकी उम्र एक ही क्यों न हो। ऐसे बच्चे हैं जो... जो अभी प्राथमिक अवस्था में हैं। तुम्हें... अगर तुम अपने चैत्य पुरुष के बारे में पूरी तरह सचेतन होते तो तुम यह जान सकते कि कौन-से बच्चों की अन्तरात्मा विकसित है। ऐसे बच्चे हैं जिनमें चैत्य पुरुष अभी बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में है। चैत्य पुरुष की उम्र समान नहीं है, नहीं, बिलकुल नहीं। साधारणतया चैत्य पुरुष को अपना पूरा गठन करने में कई जीवन लग जाते हैं, और वही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाया करता है और इसीलिए हमें अपने पूर्वजन्मों का भान नहीं होता: क्योंकि हमें अपने चैत्य का भान नहीं होता। लेकिन कभी-कभी, ऐसे क्षण होते हैं जब चैत्य पुरुष किसी घटना में भाग लेता है; वह सचेतन हो जाता है, और उसकी स्मृति रह जाती है। कभी-कभी व्यक्ति को... व्यक्ति को आंशिक स्मृति होती है, किसी घटना या परिस्थिति की स्मृति, या किसी विचार या किसी क्रिया की स्मृति, इस तरह: यह चैत्य के सचेतन होने के कारण होता है।

देखो यह कैसे होता है, अब मैं सौ के पास पहुँच रही हूँ, बस, अब पाँच वर्ष की देर है। वत्स, मैंने पाँच वर्ष की अवस्था से सचेतन होने का प्रयास शुरू कर दिया था। यह तुम्हें

यह बताने के लिए है...। और अभी मैं चलती चली जा रही हूँ, और यह प्रयास भी जारी है। केवल... निस्सन्देह, मैं अब एक ऐसे बिन्दु पर आ गयी हूँ जहाँ मैं शरीर के कोषाणुओं के लिए काम कर रही हूँ, लेकिन फिर भी, काम बहुत पहले शुरू हो गया था।

यह तुम्हें हतोत्साहित करने के लिए नहीं, बल्कि... तुम्हें यह बताने के लिए है कि यह काम बस, यँ ही नहीं हो जाता!

शरीर... शरीर एक ऐसे पदार्थ का बना हुआ है जो अभी तक बहुत भारी है, और 'अतिमन' के अभिव्यक्त होने के लिए स्वयं पदार्थ को बदलना होगा।

तो, यह बात है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ४६६-६९

श्रीअरविन्द के उत्तर

(८४)

कल या परसों जब चम्पा मेरे निकट थी, मैंने उससे बातें करने की सोची। लेकिन मैं कुछ बोल पाता इससे पहले मेरे अन्दर डर के जैसे कुछ स्पन्दन से उठने लगे और बाद में कँपकँपी होने लगी—बहुत ठोस लेकिन फिर भी अगोचर। फिर पैर शक्तिहीन से होने लगे और सारी चेतना मानों स्पन्दनशील गड्ढमड्ढता की अवस्था में चली गयी। यह क्या हो सकता है? क्या उसके अन्दर का डर मेरे अन्दर घुस गया, या उससे बाचतीत करने के मात्र विचार ने मेरी स्नायुओं की स्थिरता को अस्थिर कर दिया? या फिर यह उसके चारों तरफ़ की सुरक्षात्मक दीवाल है और जैसे ही मैं सूक्ष्म तरीके से उसे तोड़ना चाहता हूँ कि वह मुझे अस्वीकृति के साथ पीछे धकेल देती है?

या हो सकता है कि यह तुम्हारी नसों में एक आत्म-सुरक्षात्मक भय हो जो उसके साथ प्राणिक सम्पर्क की पुनरावृत्ति के संकट से कतराता हो? अगर वह नहीं है तो हो सकता है कि वह उसके अन्दर का कम्पायमान प्राणिक विक्षोभ हो जो तुम्हारे अन्दर सञ्चालित हो रहा है। दूसरी दो व्याख्याएँ सम्भव प्रतीत नहीं होतीं।

कल पुराणी ने मुझे एक चौपन्ना दिखलाया जो उसके पास सूरत से आया था और फिर इधर-उधर की कुछ और चीज़ें भी दिखलायीं—हाँ, वह संस्कृत ही बोल रहा था। लेकिन संस्कृत के द्वारा भी उसने अपनी वही सामान्य गरिमा सञ्चारित की

जिसमें “शान्ति का कोई तत्त्व नहीं था”—जैसा कि जसवन्त कहता। मैंने नहीं सोचा था कि वह इतनी ज़्यादा होगी कि मुझ पर फैल जायेगी, लेकिन वह फैल गयी। मैंने अपने शरीर में एक अस्तव्यस्त और असन्तुलित गरमी महसूस की, वह शान्ति नहीं जो तब भी अचञ्चल बनी रहती है जब मैं किसी से बातचीत करता हूँ।

मेरे खयाल से पुराणी अपने स्वभाव से शान्त तथा अचञ्चल होने की बजाय वैसे ही ज़्यादा “आग्नेय तथा दबाव डालने वाला” पुरुष है। अगर वह प्राण को चैत्य अग्नि तथा मन और प्राण को आध्यात्मिक प्रेरणा में बदल दे तो सब ठीक हो जायेगा।

नैपोलियन तथा उसके युद्ध मेरे मन में लगातार क्यों आ रहे हैं? या फिर क्या मैं उसके जनरलों में से एक था, या स्वयं वही या उसका पिता? क्या मैं जोज़ेफ़िन था? ऑस्टेर्लिज़ (Austerlitz) जैना (Jena) मिस्त्र का युद्ध (Egyptian war)—इन तीनों में उसने भूल क्यों की, यह या वह करके क्या वह बेहतर तरीक़ा नहीं अपना सकता था—ये सारे विचार मेरे मस्तिष्क में तैर रहे हैं। अगर मैं उसके दिल में होता तो मैं तेज़ी से फ़्रांसीसियों तक पहुँच जाता और अपनी वाक्पटुता से बेंजामिन को सकते में डाल देता। क्या आपको विश्वास है कि मैं नैपोलियन या जोज़ेफ़िन या नैपोलियन की बहन या फिर उसके जनरलों में से एक नहीं था?

निश्चित रूप से पहले तीन तो नहीं। जनरलों के बारे में मैं नहीं कह सकता—उनकी तो भरमार थी, इसकी तो हमेशा ही सम्भावना है कि यहाँ का कोई भी व्यक्ति उनमें से एक हो। लेकिन इससे यह मतलब नहीं निकलता कि अगर तुम थे तो इस जनम में तुम फ्रेंच में एकदम माहिर हो जाते।

२० मई १९३५

एक दफ़ा आश्रम से बाहर चले जाना और अगर सम्भव हो तो फिर लौट आना, किसी हिसाब से मेरे लिए सहायक न होगा क्या? कम-से-कम इससे मुझे बाहर जाने का कुछ अन्दाज़ा तो लग ही जायेगा और इसके लिए मेरे अन्दर के किसी भाग में जो बहुत प्रबल अभिलाषा दुबकी हुई है वह तो शायद तृप्त होकर शान्त हो जाये। यह कैसी बात है कि बेचरलाल और दूसरे कई अच्छे साधक बाहर जाकर लौट आते हैं और फिर भी कुछ नहीं खोते? अब जब कि मैं जाने का पक्का निश्चय कर रहा हूँ (इस सिद्धान्त पर कि मैं अपने अन्दर की किसी भी ज़ोरदार प्रवृत्ति को दबाऊँगा नहीं), मैं देखता हूँ कि रेलवे स्टेशन तो दूर की सोच है, मैं तो पॉण्डिचेरी के ‘पिअर’ के पुल तक भी नहीं जा सकता! यह तो इच्छा (एक साधिका) के

अनुभव से भी कहीं ज्यादा सँकरी और दमघोंटू बन्द गली है!

बेचरलाल इसलिए बाहर नहीं जाता क्योंकि उसके अन्दर की कोई कामना उसे जाने के लिए धकेलती है या उसके अन्दर का कोई संघर्ष उसे बाहर जाने को प्रवृत्त करता है—वह तो अपना काम सलटाने के लिए जाने को बाध्य होता है। यह एकदम से अलग बात है। मुझे बहुत सन्देह है कि आध्यात्मिक जीवन में अपनी प्रबल प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने का सिद्धान्त क्या साधक के लिए बहुत स्वस्थ चीज़ है? रही बात साधना के सभी लाभों को बनाये रखने की तो इसमें बहुत सन्देह है। अगर व्यक्ति अपनी सनकों को सन्तुष्ट करने में ही लगा रहे तो वह चीज़ उसकी चेतना में पलट कर ज़रूर आती है, हाँ, अगर साधक पर्याप्त रूप में विकसित न हो तो फिर कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

२१ मई १९३५

यह कैसी बात है कि योगानन्द, जिसका चन्दूलाल के साथ बहुत कम सीधा सम्पर्क है, उससे एकदम से विरक्त क्यों है? (मैंने उसकी चिट्ठी से यह जाना।) एक हाथ से तो ताली कभी नहीं बजती, यानी, केवल एक ही व्यक्ति की गलती तो हो नहीं सकती। यह कैसा है कि न चन्दूलाल लोगों के साथ सामञ्जस्य रख सकता है और न ही लोग उसके साथ? शुरू से ही बेंजामिन, नरभेराम, गोविन्दभाई, खिरद, यहाँ तक कि मोहनलाल भी चन्दूलाल से सहमत नहीं रहते थे। मुझे वेंकटरमण तथा दूसरों के बारे में पता नहीं है, उन्होंने शायद पहले ही उसका साथ छोड़ दिया। निश्चित रूप से अब बात अलग है, लेकिन वह इसलिए कि चन्दूलाल की अपेक्षा औरों के अन्दर सामञ्जस्य बनाये रखने की सामर्थ्य कहीं अधिक है। आपने कहा था, “यह बस चन्दूलाल के व्यवहार की रुखाई है—उसका कोई और इरादा नहीं होता।” हो सकता है, लेकिन ऐसी रुखाई प्रायशः बहुत ही अपमानजनक होती है और यह मेरी डरावनी नज़र या मेरे किसी को चाँटा जड़ देने से कहीं ज्यादा गहरी चोट पहुँचाती है। उसकी क्षतिपूर्ति के तौर पर, आजकल वह ज़रूरत से ज्यादा नम्र और विनीत बन रहा है जो हास्यास्पद और बनावटी लगता है। मेरे ख़याल से मौलिक रूप से उसके अन्दर ऐसी किसी चीज़ का अभाव है जो औरों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर सकती है।

योगानन्द का चन्दूलाल के साथ बहुत काम पड़ता है और चन्दूलाल के ज़रिये ही माँ ने बड़ईगिरी के काम की व्यवस्था की थी जो योगानन्द को पसन्द न आयी और उसने चन्दूलाल को उसका ज़िम्मेदार ठहराया—उसके शिकायती पत्रों से मैंने यही अनुमान लगाया।

लेकिन मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारा यह कहना सही है कि चन्दूलाल कुछ व्यक्तियों के

सिवाय औरों के साथ आसानी से सामञ्जस्य नहीं बनाये रखता। लेकिन बहरहाल, वह अपने स्वभाव के दोषों पर विजय पाने के प्रयासों में सच्चा है।

रामकृष्ण का यहाँ आना मेरी समझ में आता है, लेकिन विक्टर ह्यूगो—(अमृत के रूप में) या एक गॉलिक सरदार तथा राणा प्रताप (पुराणी के रूप में) इस जीवन में यहाँ क्यों आये? क्या उन्होंने अपने पूर्वजन्मों में कोई योग-साधना की थी? सन्देहास्पद है। मैं भी तो पेशेवर सैनिकों का नेता था, तब मैंने कौन सा योग किया कि मैं यहाँ आ गया? तो क्या कोई भी आधिकारिक योगी नहीं हैं जो यहाँ लौट कर आये? कपिला, कनडा, जामिनी, पतञ्जल, गौणपद, शंकर, गौरक्ष इत्यादि दूसरों का क्या हुआ?

शायद उन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया हो, इसलिए केवल कवि, राजनेता और सैनिक ही इस योग के लिए रह गये! लेकिन आखिरकार ऐसा नहीं लगता कि कविगण और गॉलिक सरदार इस योग की ओर प्रवृत्त हुए हों और उन्होंने इससे बहुत लाभ उठाया हो, उदाहरण के लिए, चैतन्य के जगाई-मधाई, सन्त ऑगस्टीन तथा अन्य।

लेकिन अन्ततः यह चेतना की धुरी है, कोई व्यक्तित्व नहीं जो पुनर्जन्म लेता है; व्यक्तित्व केवल उसी एक जन्म का होता है, इसलिए वह हमेशा के लिए नहीं बँधा रहता, जिस जन्म में व्यक्तित्व जो भूमिका निभाता है वही उसके उस जीवन को प्रभावित करती है।

२२ मई १९३५

जिन्होंने निर्वाण पा लिया है, उनकी कोई चैत्य सत्ता होती है या फिर वे व्यक्तिगत आत्मा के रूप में पृथक् रहते हैं? क्या वे घड़े में उस पानी-जैसे बन जाते हैं जिसे समुद्र में उँडेला जा रहा हो, ताकि उस पानी को कभी अलग नहीं किया जा सके? क्या निर्वाण ऐसी अवस्था है कि शरीर, प्राण, मन, चैत्य तथा आत्मा अपने वैश्व उद्गमों में अभेद्य रूप से घुल-मिल जाते हैं?

उन्हें ऐसा अनुभव ही नहीं होता कि उनका कोई अस्तित्व भी है। बौद्ध निर्वाण में मनुष्य अनुभव करता है कि ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, है तो बस एक अनन्त आकारहीन शून्य या निहिल। अद्वैत निर्वाण में बस एक विशाल अस्तित्व को अनुभव किया जाता है, वहाँ कोई भी पृथक् सत्ता कहीं भी इन्द्रियगोचर नहीं होती। हाँ, वहाँ आकार ज़रूर होते हैं लेकिन वे बस आकार होते हैं, पृथक् सत्ताएँ नहीं। मन शान्त हो जाता है, विचार बन्द हो जाते हैं, कामनाएँ, आवेश, प्राणिक क्रियाएँ और गतियाँ—कुछ नहीं रहता। चेतना होती है, लेकिन बस एक आकारहीन प्राकृतिक मौलिक चेतना जो असीम होती है। शरीर हिलता-डुलता और क्रिया करता है, लेकिन

शरीर का भान नहीं रहता। कभी-कभी केवल शुद्ध अस्तित्व की चेतना होती है, कभी केवल शुद्ध चेतना, और कभी अस्तित्व होता है तो बस एक अविरत असीम आनन्द का। बाक़ी सब कुछ सचमुच विलीन हो जाता है या फिर छिप जाता है—यह विवादास्पद विषय है; लेकिन हर हाल में, यह होता है विलीन होने या घुल जाने का अनुभव।

मानों योगानन्द का संघर्ष सूक्ष्म रूप में मेरे अन्दर उतर आया। मैंने उसका आज का पत्र पढ़ा जिसमें उसने काम छोड़ देने का फ़ैसला कर लिया है। मैंने उससे कहा कि यह तो निर्वाण की गुफा में दुबक जाना होगा। चन्दूलाल या अमृत के साथ की अनबन को उसे अपने-आपको सुधारने के रूप में लेना चाहिये, और इसका हल काम से भाग जाने से कभी नहीं मिल पायेगा। किसी भी दूसरी जगह उसे उन्हीं समान कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, और एक-न-एक दिन उन्हें सुलझाना ही होगा। लेकिन उसका कहना है कि अमृत और चन्दूलाल के साथ उसकी यह अनबन एक साल से चल रही है, और बढ़ती जा रही है, इसलिए उसने काम छोड़ने का निश्चय कर लिया है। मुझे प्रायः पूरा विश्वास है कि उसी की यह भावना मेरे अन्दर रिस गयी, वरना चन्दूलाल के साथ असामञ्जस्य का मेरा कारण कितना तुच्छ था और उसके परिणाम कितने भीषण! निस्सन्देह, मेरा रवैया यह है कि “पूरा-पूरा या कुछ नहीं”—चीज़ भौतिक स्तर पर तेज़ी से आती है और फिर वहीं ख़तम हो जाती है। मैं बाद में कोई मनमुटाव नहीं रखता, जब कि वह महीनों तक ग़लतफ़हमियों और वैर पोसे रखता है, जो चीज़ मेरे लिए एकदम असम्भव है। उसकी यह मनोवैज्ञानिक बीमारी चिरकालिक बन रही है जब कि मेरी छिट-पुट भड़ास में निकल जाती है!

योगानन्द ने अपना फ़ैसला बदल लिया और उसने चन्दूलाल के साथ इतनी मधुरता से बातचीत की कि चन्दूलाल, जिसके स्वभाव का एक हिस्सा इतना कोमल और भावुक है, जब कि दूसरे भाग में वह उतना ही कठोर और अनम्य है, बहुत अधिक हिल गया, द्रवित हो गया। मैं आशा करता हूँ कि यह अधिक सहज और अधिक स्नेही सम्बन्धों की शुरुआत होगी।

२३ मई १९३५

मैं कह नहीं सकता कि यहाँ रह कर मैं कुछ लाभ नहीं उठा सकता, या मैं यहाँ किसी चीज़ को ग्रहण नहीं कर पाता, या फिर यह भी नहीं कि मैंने सामान्य जीवन में जाने का फ़ैसला कर लिया है। नहीं, इनमें से किसी भी चीज़ ने मुझे हिलाया नहीं, और न किसी भी समय अनुशासन के तौर पर चन्दूलाल के साथ हुई अनबन ने ही मुझे यहाँ से चले जाने को उकसाया। यह तो जो मैं “इच्छाओं की विपरीतताओं

के परस्पर-विरोध” का अनुभव करता हूँ, वह है, हालाँकि मेरे पास ऐसा कोई ठोस मुद्रा नहीं है जिसे पकड़ कर मैं कह सकूँ कि यहाँ से चले जाने का मेरा सोचना सही है। मेरे अन्दर सहज रूप से यह भाव बार-बार उमड़ता है कि एक-न-एक दिन मैं विजय या दुर्गादास की तरह कुछ करूँगा, या फिर इतनी दूर जाने की बजाय, अगर मेरे स्वभाव को बदलना असम्भव है तो ज़्यादा अच्छा होगा कि मैं समय से पहले ही कार्यनिवृत्त हो जाऊँ। दूसरी बात यह कि जब मैं अपने पिछले नौ महीनों का लेखा-जोखा करता हूँ तो पाता हूँ कि मेरी प्रकृति में निरन्तर एक गिरावट हो रही है, हालाँकि आप मुझे उसमें से बाहर निकालने का भरसक प्रयास करने में लगे ही रहते हैं। हम यह कभी नहीं कह सकते कि यहाँ से हम कुछ लाभ नहीं उठा सकते या यहाँ हमें कोई लाभ नहीं मिला, या यह कि यहाँ ऐसी कोई चीज़ नहीं जिसे साधारण जीवन में नहीं किया जा सकता।

इच्छाओं का संघर्ष इसलिए बना रहता है क्योंकि जब तुम्हारे अन्दर विरोधी इच्छा उठती है तो तुम अपने-आपको उससे अलग करने की जगह उसे अपने ऊपर फेंकी हुई किसी चीज़ के रूप में देखते हो। नहीं तो ऐसा कोई कारण ही नहीं कि तुम्हारे स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। ‘पुरुष’ जिस किसी चीज़ को अपने से पृथक् कर लेता है उसका समय के साथ विलीन हो जाना अवश्यम्भावी है।

बहरहाल, तुम्हें अपने चुनाव के अलावा किसी और की इच्छा से बँध कर यहाँ नहीं रहना चाहिये। मन को निश्चय करने की पूरी-पूरी छूट होनी चाहिये।

(शिष्य का पत्र अनुपलब्ध है)

निश्चय ही मैं तुम्हें “असमञ्जस” में नहीं डालना चाहता, और तुम्हारे अपने झुकाव या चुनाव के विरुद्ध न मेरा तुम्हें यहाँ रखने का विचार है और न ही इच्छा। चले जाना या यहाँ बने रहना—यह पूरी तरह से तुम्हारे अपने निश्चय का मामला है। अगर तुम यहाँ अपने आध्यात्मिक लाभ के लिए रह सको तो हम बहुत खुश होंगे; लेकिन अगर तुम्हें लगे कि यहाँ रह कर तुम कोई लाभ नहीं उठा सकते या तुम कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते या फिर यह कि तुमने निश्चित रूप से साधारण जीवन बिताने का मन कर लिया है तो निश्चय ही मैं तुम्हारे सच्चे रस या इच्छा के विरुद्ध तुम पर यहाँ रहने के लिए कोई अनावश्यक दबाव हर्गिज़ न डालूँगा। तुम अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार ढालने के लिए पूरी तरह से स्वतन्त्र हो, यह तुम्हारा अपना चुनाव होना चाहिये।

मैं बन्दर के बच्चे की तरह भी नहीं हूँ जो कम-से-कम माँ से चिपके रहने की

कोशिश तो करता है। मैं तो ऐसा हूँ जो माँ द्वारा कस कर पकड़े रहने पर भी अपने-आपको उनसे छुड़ा कर भाग जाना चाहता है। मैं निश्चय ही साँप और लकड़बगधे के तत्त्वों से बना होऊँगा। बन्दर का बच्चा बन पाना भी मेरे लिए एक प्राप्ति होगी, और बिल्ली का बच्चा बनना, मुझे पता नहीं मैं उसमें सफल भी हो पाऊँगा!

सभी में इस तरह के तत्त्व होते हैं, लेकिन उसकी तली में निम्न बाहरी प्रकृति की वह लालसा रहती है जो अपनी स्वभावगत विशेषता की अभ्यासी गतियों को छोड़ना नहीं चाहती। अगर उस पर दबाव डाला जाये तो वे शक्तियाँ जो उस लालसा पर जीती हैं, भड़क उठती हैं, भयंकर असन्तोष ले आती हैं और स्वतन्त्र होने के लिए यहाँ से चले जाने का आवेश पैदा कर देती हैं, कि तुम आध्यात्मिक जीवन इत्यादि, इत्यादि उच्चतर चीज़ों के लिए अनुपयुक्त और असमर्थ हो। 'पुरुष' के लिए सबसे सुरक्षित रास्ता है कि अपने-आपको ऐसी गतियों से एकदम अलग कर ले, उन्हें बाहर से थोपी हुई चीज़ माने और अनुभव करे, फिर उन पर बाहर निकल जाने का दबाव डाले, व्यक्ति को इन चीज़ों को अपने ऊपर दबाव के रूप में नहीं बल्कि इस रूप में लेना चाहिये कि यह एकदम से कोई विजातीय वस्तु है जिसे बाहर जाना ही होगा।

२४ मई १९३५

मेरे अन्दर मौलिक रूप से कोई गड़बड़ ज़रूर है! वरना मुझ पर यहाँ से चले जाने के ऐसे बार-बार दौरे क्यों पड़ते भला? अभी सब कुछ गड़मड़ है और मैं आर-पार मुश्किल से कुछ देख पा रहा हूँ—मैं विश्लेषण करने या समन्वय करने की सारी शक्ति खो बैठा हूँ। उस पर तुरा यह कि आपने मुझे यहाँ से चले जाने की पूरी छूट दे दी!

मैं तुमसे यहाँ से चले जाने को नहीं कह रहा, लेकिन अगर मैं इससे उलटी बात कहूँ तो वह तुम्हारे इस सुझाव को हवा देगी कि मैं किसी ऐसी चीज़ को करने के लिए तुम पर ज़ोर डाल रहा हूँ जो तुम कर नहीं सकते, करना नहीं चाहते, वह आध्यात्मिक जीवन जीने को तुमसे कहा जा रहा है जिसे तुम जी नहीं सकते, जीना नहीं चाहते और तुम्हें यहाँ तुम्हारे स्वभाव के चुनाव और तुम्हारे मन की इच्छा के विरुद्ध ज़बरदस्ती रखा जा रहा है। तुम सोचते हो कि तुम्हारे अन्दर की कोई चीज़ तुमसे यह सब कहती है, लेकिन सचमुच ऐसा नहीं है। और चूँकि अभी तुम यह सब नहीं देख पाते, मेरे पास तुम्हारे निश्चय पर छोड़ देने के अलावा और कोई चारा नहीं है ताकि तुम्हारे अन्दर यह भाव जो बार-बार जग रहा है कि तुम्हें यहाँ अन्यायपूर्ण तरीके से रहने को बाधित किया जा रहा है, उसे पनपने का क्षेत्र न मिले।

तुमने एक से अधिक बार विजय की तुलना अपने-आपसे की है, लेकिन वह तुमसे एकदम

विपरीत है। वह तो स्वयं को अतिमानसिक 'सत्य' को धारण करने वाला समझता है जिसके पास सभी को 'सत्य' के लिए जाना चाहिये, और यह कि यह आश्रम असुरों का ठिकाना है जो उसे पहचानने से इन्कार करते हैं और इन सभी असुरों को उसके विरुद्ध क्रदम-क्रदम पर माताजी तथा मेरा सहारा मिला हुआ है। उसने मुझे अपना अन्तिम निर्णय सुना दिया कि या तो हम दूसरों के विरुद्ध उसकी बातों को स्वीकार करके उसे आश्रम में उचित पद पर बिठलायें या उसे इस आश्रम को छोड़ कर चले जाने की स्वतन्त्रता प्रदान कर दें जिसके लिए उसके अन्दर अब कोई आकर्षण नहीं बचा, यह उसके जैसे महानुभाव के लिए एक असम्भव स्थान है, हमारी अनुमति मिल जाने पर वह यहाँ से कहीं और जाकर लोगों को 'सत्य' बाँटता फिरेगा। उसके और तुम्हारे बीच कोई और मेल नहीं है, बस है तो यह कि उसकी तरह तुम्हें भी कोई शक्ति यहाँ से खदेड़ना चाहती है।

अभी जो हो रहा है वह यह है कि अवचेतना की एक महान् बाढ़ उमड़ आयी है जिसमें स्वभाव की अभ्यासी कठिनाइयों के अवशेष तैर रहे हैं। लेकिन वहाँ सब कुछ गडुमडु है, अन्धकारमय है, कोई व्यवस्था या मानसिक स्पष्टता नहीं है—यह एक अस्त-व्यस्त निराशा है, हतोत्साह है और प्रगति की असमर्थता है—ऐसा भाव है कि हम क्या कर रहे हैं? हम यहाँ क्यों हैं? हम इस तरह कैसे चला सकते हैं? क्या हमें कभी कोई प्राप्ति होगी? और इस सबके साथ पुरानी कठिनाइयाँ जब-तब और अस्त-व्यस्त रूप में सिर उठाती ही रहती हैं, लेकिन प्रायः उग्रता और व्यथा के रूप में।

तुम "दोबारा" शुरू नहीं कर सकते; इस घपले में ऐसा करना बहुत मुश्किल होगा। अगर तुम उस "शान्ति" को फिर से पा सको जो आ रही थी और उसके साथ-साथ अवचेतन 'प्रकृति' के सभी घपलों से विरक्त और अलग होकर 'पुरुष' की चेतना की मुक्ति और विस्तार के लिए अभीप्सा करो तब तुम्हारी पकड़ अच्छी हो जायेगी और तुम आगे बढ़ पाओगे। लेकिन इसके लिए तुम्हें अपने चुनाव को दृढ़ बनाना होगा और पग-पग पर नाराज़ होना और भटक जाना अस्वीकार करना होगा।

ध्यान के बाद पुराणी पीछे से मेरे साथ संस्कृत में बोला—स्थाणुरिव तिष्ठसि—पत्थर की तरह खड़े हो। मैंने पीछे मुड़ कर देखा कि कौन बोला, और बिना कुछ कहे बस मैं मुस्कुरा दिया। फिर मैंने निम्न स्थलों पर दबाव के साथ एक बेचैनी का अनुभव करना प्रारम्भ किया—विशेषकर सेक्स-केन्द्र में। क्या वह उस समय मुझ पर किसी प्रकार से क्रिया करने की कोशिश कर रहा था? मुझे लगता है कि वह विद्वेष से मुक्त नहीं है, और जहाँ उसे लगता है कि उसके अहं को चोट पहुँची है वहाँ वह जल्दी से बात नहीं भूलता। जो भी हो, मेरी समझ में नहीं आ रहा कि यह चीज़ मुझे परेशान क्यों कर रही है—पहले भी एक दिन उसने यही किया था, और आज से कहीं ज़्यादा प्रबल रूप में।

मुझे नहीं लगता कि उसका कोई निश्चित उद्देश्य है—लेकिन अगर उसके मन में तुम्हारे विरुद्ध कोई भावना है तो स्वयं अपने-आपमें वह क्रिया तुम्हें विक्षुब्ध कर सकती है। तुम्हें अपने अन्दर वह शान्ति, बल और अचञ्चलता प्रतिष्ठित करनी चाहियें जिन्हें शक्तियों का यह सतही खेल परेशान न कर सके।

२५ मई १९३५

मैंने साधना एकदम शुरू से करने के बारे में इसलिए लिखा क्योंकि मैं इतना ज़्यादा भ्रम में पड़ा हुआ हूँ कि पूछिये मत। वह सब जिसके बारे में मैंने महीनों नहीं सोचा, लौट आया और जो कुछ मैंने प्राप्त किया था, वह सब मैं गँवा बैठा। यह भयंकर और निराशाजनक है—यह चीज़ व्यक्ति को धर दबोचती, उसे नीचे पटक देती और फिर गुज़र जाती है। कल शान्ति मृणालिनी को फ्रेंच में कुछ पढ़ कर सुना रहा था। मैंने उनकी आवाज़ें सुनीं और मैं यह देखने के लिए उत्सुक हो गया कि वह शान्ति ही था न—और कितनी तुच्छ जलन मुझ पर सवार हो गयी! आज तुलसी लीला के साथ पढ़ रहा था और मुझे उसी विक्षोभ का अनुभव हुआ। मुझे आश्चर्य होता है कि लीला, जो मुझे एक नज़र-भर देखने की परवाह नहीं करती, तुलसी से सीख रही है जो न के बराबर जानता है और जो मुझसे सीखने को आतुर है। यह चीज़ जलन और दूसरी तुच्छ भावनाओं से मिली-जुली थी। भगवान् जाने, यह सब मेरे अन्दर फिर कहाँ से टपक पड़ा—मैंने तो सोचा था कि इन सभी चीज़ों से मैं अपना पल्ला कब का झाड़ चुका हूँ।

जब इन चीज़ों का त्याग कर दिया जाता है और ये कुछ समय के लिए गायब हो जाती हैं, तो इनका कुछ हिस्सा बाहर आस-पास की चेतना में चला जाता है और वहाँ से वे सामान्य प्रकृति से एक लहर के रूप में उठ कर वापस लौट सकती हैं। अगर व्यक्ति सचेतन हो तो वह इन्हें वापस अन्दर आते हुए देख भी सकता है। ऐसी वापसी का त्याग शुद्धि का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है और यह शुद्धि तब तक पूरी नहीं होती जब तक वापस आने की यह शक्ति समाप्त नहीं हो जाती। लेकिन यह भी हो सकता है कि इसके कुछ हिस्से का त्याग नहीं किया गया हो क्योंकि वह मानसिक नियन्त्रण के तले दबा हुआ हो, तब वह हिस्सा अवचेतना में डूब जाता है और जब अवचेतना सक्रिय होती है (स्वप्न में या मन की निष्क्रिय अवस्था में) या जब शुद्धि के लिए स्वयं अवचेतना को ऊपर लाया जाता है, तब वह चीज़ भयंकर उग्रता के साथ ऊपर उठ आ सकती है। विशेषकर वहाँ साधक के मन में यह विचार आ सकता है कि उसे सब कुछ नये सिरे से शुरू करना होगा और उसने रत्ती-भर भी प्रगति नहीं की है। लेकिन वह सच्ची बात नहीं होती। व्यक्ति को दृढ़ होना चाहिये, वह ज़रा भी विक्षुब्ध न हो, बल्कि जब यह चीज़ आये तो वह अपने-आपको उससे दृढ़ता के साथ और पूरी तरह से अलग कर ले ताकि

उसे अपनी प्रकृति से अथ से इति तक उखाड़ फेंके।

क्या ऐसी बात नहीं है कि फ्रेंच पढ़ने की मेरी तल्लीनता साधना के विचार के लिए मेरे मस्तिष्क में कोई जगह नहीं छोड़ती और इसीलिए भाषा की एकाग्रता से बाहर निकलते-न-निकलते मेरे दिमाग में पता नहीं क्या-क्या चला आता है? पढ़ता मैं इसलिए हूँ कि आपने मुझे ऐसा आभास दिया है कि यह लाभदायक और आवश्यक है। इसी वजह से मैं इस पर एकाग्र होकर, सारा-सारा दिन पढ़ सकता हूँ, यहाँ तक कि काम के समय भी। क्या काम के समय पढ़ना गलत है और यह मेरी साधना में अड़चन है? अगर बात इतनी गम्भीर है तो काम के समय मैं अपना पढ़ना जारी नहीं रखना चाहूँगा। लेकिन तब काम के पहले या बाद में मेरे पास बहुत कम समय बचेगा और मैं न के बराबर पढ़ पाऊँगा। अगर यह अवाञ्छनीय है तो मैं इसे जारी नहीं रखूँगा, तो कृपया मुझे सन्देह में मत पड़ा रहने दें। अगर आप मुझसे कहें नहीं और मैं इस बारे में कुछ न जानूँ कि यह अनुशासन का प्रश्न है या नहीं, तो बाद में यह चीज़ मेरे अन्दर बहुत उथल-पुथल मचा देती है।

श्रीमाँ कह रही हैं कि काम के समय तुम्हारे फ्रेंच पढ़ने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है।

बहरहाल, मैं कहना चाहूँगा कि अगर तुम अपनी एकाग्रता पढ़ाई और साधना-विषयक विचारों में बाँट सको, अधिक एकाग्रचित्त रहो तो तुमने जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है उसमें यह चीज़ सहायक और बेहतर होगी। मेरे कहने का मतलब है कि साधना के वातावरण को रचने के लिए तुम्हारे मन में इतनी पर्याप्त एकाग्रता हो कि जैसे ही तुम पढ़ना समाप्त करो तो उसे सतह पर ला सको या जब कभी कोई अप्रिय विचार तुम पर धावा बोले तो उसे ठीक कर सको। वरना अवचेतना की शक्तियाँ खुल खेलेगी और अपनी शक्ति जुटाती रहेंगी। इसके अतिरिक्त, अगर ऐसा न हो तो तुम्हारी अवस्था अवचेतना में चली जाती है, यानी, तुम जड़, लकड़ी के कुन्दे-जैसे बन जाते हो। कम-से-कम अभी हाल ही में मैंने स्वयं अपनी अवचेतना के साथ यही देखा, तो मैं तुम्हें भी वही सलाह दे रहा हूँ।

“श्रीमाँ को इसमें कोई आपत्ति नहीं है” मेरे लिए एक बहुत कमज़ोर सहारा है, क्योंकि जब मैं कोई ऐसा काम करता हूँ “जो आपत्तिजनक न हो” तो उसमें एक अस्पष्टता और संकोच होता है। बहरहाल, मैंने देखा कि मेरे पास पर्याप्त समय है—क्ररीब दो घण्टे—काम के पहले और बाद में पढ़ने के लिए, और यह बहुत काफ़ी है। बहुत ज़्यादा पढ़ना भी, जैसा मैं कर रहा था, मस्तिष्क में चीज़ों की याददाश्त को आवश्यक रूप से बनाये नहीं रखता, और मस्तिष्क के कोषाणु शब्दों के उसी समान स्पन्दनों से थक जाते हैं। मेरे ख़याल से जब हम कोई भाषा सीखते हैं तो मन का

कोई यान्त्रिक हिस्सा उसमें रम जाता है और उसे बहुत ज़्यादा सक्रिय बना देने का अर्थ होगा कि मन के उच्चतर भागों का बहिष्कार कर देना, यहाँ तक कि निम्न चीज़ों को ऊपर उठने की अनुमति देना। वैसे सबसे बड़ी बात यह है कि जब कोई केवल अपने काम पर ही पूरा-पूरा ध्यान देता है तो सुख का अनुभव करता है।

अगर बात ऐसी है तो ठीक है। यान्त्रिक मन की जो बात तुमने कही वह सम्भवतः सही है।

२७ मई १९३५

श्रीअरविन्द